

अंक-9, सितम्बर, 2013

ISSN : 2249-4146

स्त्रीकाल

(स्त्री का समय और सच)



अंक : दलित स्त्रीवाद

अतिथि संपादक : अनिता भारती

इस अंक में

संपादकीय

वसुधैव कुटुम्बकम् का छद्म संजीव चंदन 3

अतिथि संपादकीय

दलित स्त्रीवाद पर बहस अनिता भारती 5

हस्तक्षेप

दलित स्त्रियाँ अपनी बात अलग ढंग से रखती हैं
फैंसी स्त्रीवादी आयोजनों में जाति-मुद्दों की उपेक्षा
गोपाल गुरु/अनुवादक : डॉ. अनुपमा गुप्ता 7
ज्योत्सना सिद्धार्थ/अनुवादक : रंजना बिष्ट 10

विरासत

हिन्दू नारी का उत्थान और पतन बी.आर.अम्बेडकर 12
हिन्दू कोड बिल और बाबा साहेब का संघर्ष 20
जोतिबा फुले को सावित्री बाई फुले के तीन प्रेम-पत्र 80
स्त्री-पुरुष तुलना ताराबाई शिन्दे 82

आलेख

जाति, वर्ग और लिंग उमा चक्रवर्ती/अनुवादक : विजय झा 25
जेण्डर और सत्ता : इतिहास के हाशियों पर... सौरभ दुबे/अनुवादक : डॉ. अनुपमा गुप्ता 35
भारत में जाति और नारीवाद निवेदिता मेनन/अनुवादक : डॉ. अनुपमा गुप्ता 47
दलित स्त्रीवादी दृष्टिकोण की ओर शर्मिला रेगे/अनुवादक : डॉ. अनुपमा गुप्ता 49
दलित स्त्री आंदोलन तथा साहित्य : अस्मितावाद से आगे बजरंग बिहारी तिवारी 85
ब्लैक वूमन आत्मकथाएँ गरिमा श्रीवास्तव 94
अस्मितावादी विमर्श में दलित स्त्री का स्वर सुमित्रा महरौल 110
झलकारी बाई : हमने सुनी कहानी थी रवि रंजन 112
मध्यकालीन दलित स्त्री साहित्य सुनीता गुप्ता 114
लोक गीतों में व्यक्त दलित समाज कौशल पंवार 121
थेरीगाथा में दलित स्त्रियाँ रजनीश कुमार सिंह 123
स्त्री पराधीनता के आयाम किंगसन सिंह पटेल 127
बलात्कार तथा हत्याओं की संस्कृति और डॉ. धर्मवीर कवितेन्द्र इन्दु 133
जाति-भेद : डॉ. अम्बेडकर के विचार टेकचन्द 139
दलित स्त्री कविता : एक पाठ रामनरेश 143
तिहरे शोषण की शिकार दलित स्त्री अरुण कुमार प्रियम 145

| | | |
|---|-------------|-----|
| राजस्थान में दलित स्त्री : शोषण और संघर्ष के मध्य | संदीप मील | 147 |
| दलित महिलाएं और मानवाधिकार | वन्दना सिंह | 151 |

साक्षात्कार

| | | |
|---|--|----|
| दलित स्त्री-पुरुष को सबसे पहले ब्राह्मणवाद के.... (प्रो. कांचा इलैया से धनन्जय कुमार चौबे की बातचीत) | | 59 |
| दलितवाद शब्द तो दलितों के विरोधियों ने इजाद किया है (तुलसीराम से अरुण कुमार प्रियम की बातचीत) | | 62 |
| परिवार और विवाह स्त्री के लिए पिंजरा है (रमणिका गुप्ता से रानी कुमारी की बातचीत) | | 66 |
| दलित स्त्रीवाद जैसी कोई अवधारणा नहीं है (तेजसिंह से राजीव सुमन की बातचीत पर आधारित) | | 71 |
| पति मालिक नहीं है कि वह अनुमति दे (प्रो. लोरा ब्रुएक से रानी कुमारी की बातचीत) | | 73 |
| जाति व्यवस्था पर टिके समाज में बदलाव जाति तोड़कर... (अनिता भारती से स्वतंत्र मिश्र की बातचीत) | | 75 |
| दलित स्त्री की पराधीनता तीन स्तरों पर है (मैनेजर पाण्डेय से अरुण कुमार प्रियम की बातचीत) | | 77 |

रिपोर्टाज

| | | |
|--|------------|-----|
| काली परतों वाली बहुत अच्छी सड़कें और.. | अरविंद शेष | 154 |
| सावधान! राजा राजसूय यज्ञ पर निकले हैं... | सरोज कुमार | 159 |

समीक्षा

| | | |
|--|--------------|-----|
| वास्तविकता का प्रामाणिक अभिलेख | पूनम सिंह | 161 |
| समकालीन स्त्री रचनाशीलता पर एक उल्लेखनीय पहल | सरिता शर्मा | 165 |
| मुझे वहाँ जाना है जहाँ यातनाएँ न हों | धर्मवीर सिंह | 166 |

रपट

| | | |
|--------------------------------------|-------------|-----|
| क्या से क्या हो गई कैथर कला की औरतें | अरुण नारायण | 167 |
|--------------------------------------|-------------|-----|

कविताएँ

| | | |
|--|----------------------------|---------|
| सुनो ब्राह्मण | मलखान सिंह | 4, 9 |
| जमुनी काकी | श्रवण कुमार | 06 |
| एक बार फिर, क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए... | निर्मला पुतुल | 24, 132 |
| हाँ मैं दलित स्त्री हूँ | दीप्ति शर्मा | 46 |
| बिरसा की माँ | पूनम सिंह | 70 |
| रोटी | मिथिलेश कुमार मिश्र 'दर्द' | 84 |
| द्विज स्त्री | विक्रम कुमार | 93 |

विरोध की मोमबत्ती प्रणाली मीडिया की देन है, शुरू से ही इस प्रणाली के विरोध का चरित्र अभिजात्य रहा है, मुद्दों के चुनाव में भी। 16 दिसंबर को दिल्ली में वीभत्स बलात्कार की घटना के बाद इण्डिया गेट को तहरीर चौक में बदल जाना स्वाभाविक था। संसद भी उस घटना पर चिंतित हो उठी थी। नेता विपक्ष स्त्री हैं और शासक गठबंधन की नेता भी स्त्री हैं, लोकसभा की अध्यक्ष भी स्त्री, इसलिए सबकुछ स्वाभाविक सा था, संसद आंदोलित हो गई। नेता विपक्ष ने तो कई-कई बातें कहीं, मसलन बलात्कारियों को फांसी देने की बात, कानून को कठोर बनाने की बात और चिंता भी जताई की बलात्कार लड़की भला अब कैसे जिएगी (तब तक उसकी मौत नहीं हुई थी)। बलात्कार का कानून कठोर बनाया भी गया। इसके बाद बलात्कार की कई घटनाएं होती रहीं, क्योंकि बलात्कारी अखबार नहीं पढ़ते, समाचार चैनल नहीं देखते, लोकसभा-राज्यसभा टीवी तो एकदम नहीं। वे सिर्फ अश्लील फिल्में देखते हैं, अश्लील किताबें पढ़ते हैं, जातीय और मर्दाने दंभ में जीते हैं, ऐसा सिद्ध भी हुआ जब मुंबई में प्रशिक्षु फोटो पत्रकार पर बलात्कार हुआ। मुंबई की घटना के बाद एक बार फिर संसद आंदोलित हो गई और नेता विपक्ष ने धारदार स्टैंड लिया पीड़िता के पक्ष में।

मुंबई की घटना के सामानांतर हरियाणा के जींद में एक दलित लड़की की बलात्कार, उसकी हत्या और उसके लिए प्रदर्शन कर रहे लोगों पर पुलिसिया कहर को लेकर एक शर्मनाक चुप्पी छाई रही। इसी घटना के समानांतर धर्म के कारोबारी आसाराम बापू के द्वारा एक 16 साल की लड़की के बलात्कार पर भी चुप्पी छाई रही, न मोमबत्ती जुलूस और न संसद में नेता विपक्ष के 'ओजस्वी भाषण' उलटे उनकी पार्टी की साध्वी राजनेता, उमा भारती ने तो आसाराम को क्लीन चिट भी दे दी। नेता विपक्ष, सुषमा स्वराज उसी हरियाणा से आती हैं, जहाँ से पुलिसिया जुल्म की शिकार बलात्कार पीड़िता दलित लड़की आती है। मुद्दों का चुनाव और अलग-अलग मुद्दों के प्रति अलग-अलग इंटींसिटी साफ-साफ जातीय, वर्गीय दायरे से संचालित होते हैं। ऐसा अनुभव मुझे और मेरे जैसे लोगों को खैरलांजी की घटना के दौरान भी हुआ था, जब बलात्कार और हत्या के शिकार भोत्सांगे परिवार के लिए आन्दोलनकारियों में द्विज व अभिजात्य समूह न के बराबर था।

दरअसल वर्चस्वशाली द्विज विचारधारा या उसकी वाहक जातियां ऐसे व्यवहार करती हैं, जैसे उनकी उपस्थिति संसार के कल्याण के लिए हैं, और उसे चुनौती देने वाली विचारधाराएं या उसके वाहक समूह संकीर्ण और मानवता विरोधी हैं। यह जमात 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष करती है, और बंधुत्व, समानता और स्वतंत्रता की बात करते हुए जो लोग उस परिवार में अपना हक मांगते हैं, उन्हें संकीर्ण, विध्वंसक, जातिवादी और न जाने क्या-क्या करार देती है। यह

अकारण नहीं है कि 7वें 8वें दशक के बाद, जब भारत में अस्मिता बोधी जमातों ने वर्चस्वशाली समुदाय को चुनौती देनी शुरू की, राजनीति सहित सामाजिक संस्थानों में उनका दखल बढ़ा तभी से जातिवाद के द्वारा राजनीति और समाज के प्रदूषित होने का मिथ बनाया गया। यह मिथ अकादमिक संस्थानों तक में घर कर गया। वर्चस्वशाली समूह, जिसने असमानता को सांस्कृतिक-सामाजिक तर्क दे रखा था, जिसने सामाजिक-सांस्कृतिक-धार्मिक-आर्थिक संस्थानों को भ्रष्ट कर रखा था, उन पर कब्जा जमा रखा था, उसी समूह ने अस्मिताबोधी उभारों को तरह-तरह से चुनौती दी, मजेदार यह कि उन्होंने खुद को, 'यूथ फॉर इक्वालिटी' जैसे नामों से संबोधित किया या फिर आम आदमी पार्टी जैसे अवतारों में अवतरित हुए।

यह वर्चस्वशाली जमात या विचारधारा मानवता/व्यापक हित/मानव मात्र प्राणी मात्र के कल्याण आदि शब्दावलियों से छद्म रचती है, जबकि मूलतः संकुचित, स्वार्थी और सीमित दायरे में सोचने वाली जमात है, जो अपने अलावा किसी और की चिंता नहीं करती है या एक बड़े समूह से अकारण नफरत करती है। जिस किसी ने भी महाराष्ट्र में नामांतर आन्दोलन को देखा है, उसमें भागीदारी की है या उसके भागीदारों का अनुभव सुना है, उसे पता है कि कैसे और क्यों किसी संस्थान का डॉ. बाबा साहब आंबेडकर के नाम पर नामकरण का नफरत से भरा विरोध हुआ था, दंगे हुए थे। आज कई संस्थानों का बाबा साहब आम्बेडकर के नाम पर नामकरण देखने वाली पीढ़ी या जमात को शायद यह नहीं पता होगा कि अमरावती के स्टेशन पर डॉ. आम्बेडकर की तस्वीर लगाने के लिए भी लाठी डंडे खाने पड़े थे, लम्बे आन्दोलन के बाद वह संभव ओ पाया था।

यह वर्चस्वशाली समूह, विचारधारा, जो ब्राह्मणवादी/द्विजवादी विचारधारा है, अपने अलग-अलग रूपों में मुद्दे/एजेंडे सेट करती है। और उन्हें चुनौती देने वाली आवाज, जो समानता के सिद्धांत के साथ उनसे अपना हक मांगती है, को वे अलगाववादी, जातिवादी, संकीर्ण करार देते हैं। दुर्भाग्य से इन्हीं भागीदारी के दशकों में वामपंथी समूहों से भी 'जातिवाद' के बढ़ने पर शोक प्रकट होता रहा है।

अब जब लोकतंत्र के प्रौढ़ होने की प्रक्रिया के साथ जब हाशिये के लोगों में शिक्षा का स्तर बढ़ा है, सामाजिक-आर्थिक संसाधनों में उनकी भागीदारी बढ़ी है तब ब्राह्मणवाद पूंजीवाद का आपसी गठजोड़ अपने खास उपांगों के साथ समानान्तर रूप से सक्रिय सामंतवाद से मिलकर जो चुनौती पेश कर रहा है, उससे वे हाशिये के लोग बखूबी समझ रहे हैं और उससे लड़ भी रहे हैं। अपनी लड़ाई के मुद्दों के साथ वे अपना हित भी समझ रहे हैं और तभी राज्य उनके लिए अनचाहे ही सही अनुकूल आचरण के लिए विवश हो रहा है। यही अस्मिताबोधी राजनीति की ताकत भी है।

कुछ महीनों के अंतराल के बाद स्त्रीकाल का नया अंक हम ला

पा रहे हैं। यह अंक 'दलित स्त्रीवाद' पर केन्द्रित अंक है। दलित स्त्रीवाद की कोई भी सैद्धांतिकी दलित स्त्री के अनुभवों, इतिहास लेखन में दलित स्त्री की उपेक्षा, यहाँ तक की स्त्रीवादी इतिहास लेखन में भी, साहित्य, दलित साहित्य के प्रति 'दलित स्त्री' की खुद की आलोचकीय दृष्टि, 'दलित', 'दलित स्त्री', 'स्त्री' आदि कैटेगरी के आपसी संवाद, संघर्ष और संयुक्त कारवाइयों के वर्णन और व्याख्या से ही संभव है। अभी हिंदी में 'दलित स्त्रीवाद' सैद्धांतिकी और स्वीकृति के स्तर पर शैशवास्था में ही है। इसके पूर्व अंग्रेजी में कुछ आलेखों और किताबों के रूप में, 'दलित स्त्रीवाद' को 'स्त्रीवाद' की तथा 'दलितवाद' की कैटेगरी के रूप में गोपाल गुरु, शर्मिला रेगे, उमा चक्रवर्ती आदि ने स्थापित की है/ करने का प्रयास किया है।

इस अंक की अतिथि सम्पादक अनिता भारती 'दलित स्त्रीवाद' की आंगिक (ऑर्गेनिक) विदुषी हैं और उसकी व्यावहारिक घटनाओं की प्रतीक भी रहीं हैं। इन्होंने दलित स्त्रियों के हक में विमल थोरात, रजनी तिलक और रामरती के साथ मिलकर डॉ. धर्मवीर के स्त्रीविरोधी अभियान का व्यावहारिक विरोध किया था वह घटना इस तथ्य का प्रतीक थी कि दलित स्त्रियों को जितना 'ब्राह्मणवाद' से, 'द्विज पुरुषों' से संघर्ष करना है उतना ही 'दलित पुरुष' से, जो जाने-अनजाने 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' का अपने भीतर जख्म कर चुका है। यह घटना 'दलितवाद' का भी आंगिक क्रीटिक करते हुए दलित स्त्रीवाद का टर्निंग पाईट मानी जाती है।

इस बीच प्रखर स्त्रीवादी चिन्तक, स्त्री अध्ययन की प्रमुख हस्ताक्षर और 'समानता की ओर' रपट की सचिव वीणा मजूमदार तथा 'दलित स्त्रीवाद' को अकादमिक केंद्र में स्थापित करने वाली विदुषी/ शिक्षक शर्मिला रेगे हमारे बीच नहीं रहीं। यह अंक आदि

स्त्री शिक्षिका सावित्रीबाई फुले के साथ-साथ इन दोनों समकालीन शिक्षिकाओं को समर्पित है।

स्त्रीकाल का यह अंक काफी अंतराल पर आ रहा है, हम नियमित नहीं हो पा रहे हैं। इस कारण से और हर बार थीम आधारित अंक प्रकाशित करने के कारण भी हम कई महत्वपूर्ण आलेख या रचनात्मक सहयोगों को शामिल नहीं कर पाते हैं, जो इस बीच हमारे पास प्रकाशन के लिए भेजे जाते हैं। इस बार 'दलित स्त्रीवाद' अंक के लिए अपेक्षा के अनुरूप रचनात्मक सहयोग प्राप्त हुए। आलेखों और सृजनात्मक रचनाओं की भरपूर आयद को देखते हुए हम इस अंक में उन सामग्रियों को शामिल कर रहे हैं, जिनसे दलित स्त्रीवाद की सैद्धांतिकी से हिंदी परिक्षेत्र वाकिफ हो सके। रजनी दिसोदिया और चंदा सागर सहित कई रचनाकारों की रचनायें हम आगे के अंक में ले पायेंगे। हम इस अंक की निरंतरता में दूसरा अंक 'समकालीन दलित-आदिवासी स्त्री रचनाधर्मिता' पर प्रकाशित करेंगे। एक अंक 'बिहार का सौ साल : स्त्रीवादी नजरिये से' का प्रकाशन भी प्रस्तावित है, जो पटना में जनवरी 2013 में हुए दो दिवसीय सेमिनार में प्रस्तुत आलेखों भाषणों की प्रस्तुति होगी।

अंक के प्रकाशन में संपादन मंडल और पत्रिका से जुड़े लोगों का सहयोग तो अपेक्षा के अनुरूप ही है, लेकिन मनीषा ने जिस तरह एडिटिंग के दौरान हमें सरप्लस समय उपलब्ध कराया, दैनंदिन के कामों में अपने श्रम से, उसके लिए मैं और पत्रिका की टीम उनके आभारी हैं। पत्रिका के संपादन मंडल की सदस्य डॉ. अनुपमा गुप्ता के हम विशेष आभारी हैं, जिन्होंने हर बार की तरह इस अंक में भी महत्वपूर्ण अनुवाद किये हैं।

संजीव चंदन

सुनो ब्राह्मण

मलखान सिंह

1.

हमारी दासता का सफर
तुम्हारे जन्म से शुरू होता है
और इसका अन्त भी
तुम्हारे अन्त के साथ होगा।

2.

सुनो ब्राह्मण
हमारे पसीने से
बू आती है तुम्हें

फिर ऐसा करो
एक दिन
अपनी जनानी को
हमारी जनानी के साथ
मैला कमाने भेजो।

तुम! मेरे साथ आओ
चमड़ा पकाएंगे
दोनों मिल बैठ कर।

मेरे बेटे के साथ
अपने बेटे को भेजो
दिहाड़ी की खोज में

और अपनी बिटिया को
हमारी बिटिया के साथ
भेजो कटाई करने
मुखिया के खेत में।

शाम को थक कर
पसर जाओ धरती पर
सूँघें खुद को
बेटे को
बेटी को
तभी जान पाओगे तुम
जीवन की गन्ध को,
बलवती होती है जो
देह की गंध से

दलित स्त्रीवादी दृष्टिकोण की ओर

भिन्नता की समीक्षा

शर्मिला रेगे/अनुवादक : डॉ. अनुपमा गुप्ता

(1990 के दशक में दलित स्त्रियों द्वारा अपने अलग स्वायत्त संगठनों पर जोर देने से स्त्रीवाद में ब्राह्मणवाद और दलित राजनीति के पितृसत्तात्मक पहलू को रेखांकित करने के अलावा भी कई अन्य महत्वपूर्ण सैद्धांतिक व राजनीतिक चुनौतियाँ सामने आईं। प्रारंभ में तो उनके इस कदम ने वामदलीय महिला गुटों और स्वायत्त महिला आंदोलनों, दोनों को गंभीर बहसों के लिए प्रेरित किया, लेकिन आज वह जोश ठंडा हो गया लगता है। स्त्रीवादी राजनीति में पुराने दृष्टिकोणों पर जम चुकी धूल को झाड़ू फेंकने में यह आलस्य उस गतिरोध का प्रतिबिम्ब है, जो पिछले वर्षों में उभरे 'भिन्नता' के इस ढाँचे के भीतर जाति का मसला मात्र दलित स्त्री संगठनों की जिम्मेदारी रह गया है। अलग-अलग रुखों की पर्याप्त जाँच-पड़ताल का अभाव समकालीन स्त्रीवादी राजनीति के दर्शन को फिर से खंगालने में और साथ ही स्वायत्त दलित स्त्री-संगठनों द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोणों को अधिक धारदार बनाने में खोज और विश्लेषण को पीछे धकेल देता है।)

1980-90 के वर्षों में अश्वेत और तीसरी दुनिया के स्त्रीवादी अध्ययन व संघर्ष ने स्त्रीवादी विचारधारा में एक महत्वपूर्ण मोड़ उपस्थित किया, लेकिन श्वेत स्त्रीवादियों ने इस परिवर्तन से उपजी चुनौतियों का सामना करने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। अश्वेत व तीसरी दुनिया से उभरती इन नयी आवाजों को अपनाने से वे हमेशा बचती रही। (व्हेलेहेन 1995)। यह हिचक और चुप्पी या तो उनकी इस समझ का परिणाम है कि रंगभेद से संघर्ष सिर्फ अश्वेत स्त्रीवादियों का ही दायित्व है या श्वेत स्त्रीवादियों की उस पुरानी मान्यता का कि राजनीतिक स्तर पर लिंग-विरोधी होने का मतलब स्वतः ही जातिविरोधी हो जाना है। पश्चिमी स्त्रीवाद में गतिरोध की यह अवस्था बहुत कुछ उत्तर-आधुनिकता से इसके गठजोड़ से समझी जा सकती है, खासकर स्त्रीवादी सिद्धांतों के केन्द्र में 'भिन्नता' की अवधारणा के अवतरित होने से। अब स्त्रीवादी राजनीति के प्रति हमारी प्रतिबद्धता यह माँग कर रही है कि 'भिन्नता' की इस अवधारणा के सीमित राजनीतिक व विवेचनात्मक उपयोग की ओर ध्यान दिया जाए।

भारतीय संदर्भों में उत्तर-आधुनिक तरीकों के बढ़ते प्रभाव का राजनीतिक दुष्प्रभाव संस्कृतियों और समुदायों के पुनरोदय (जोसेफ 1991, 1997) बाद वाले वंचित नागरिकों का उदय (सरकार 1997) और उत्तरी उपनिवेशी नागरिकों का उदय (अहमद 1997) के रूप में दिखाई दिया है। उत्तर-प्राच्य-अध्ययन की संरचना ऐसी है कि ध्यान मात्र उपनिवेशी प्रभुत्व पर ही बना रहता है और इस तरह उपनिवेश काल के पहले ही जड़ पकड़ चुके जाति, जेण्डर और वर्ग आधारित प्रभुत्व नजरअंदाज हो जाते हैं। इस सैयदी ढाँचे के प्रयोग में समस्या तब पैदा होती है, जब गैर-ब्राह्मण आंदोलनों अथवा स्त्रियों के लिए या उनके द्वारा किये गये संघर्षों की बात करें, क्योंकि इन दोनों प्रकार

के आंदोलनों ने उपनिवेशी कानूनों, न्यायप्रक्रिया व प्रशासन का उपयोग अपने हितों के लिए किया है। (खासकर 1997)। सैयदी तरीके का इस्तेमाल करने की हाल की स्त्रीवादी विद्वानों की कोशिशें न सिर्फ इस धोखे की शिकार हो जाती हैं, बल्कि उन्हें एक ऐसे सीमित तरीके से संतोष करना पड़ता है, जो गैर-ब्राह्मण आंदोलनों में स्त्रियों के योगदान को पूर्णतः अदृश्य रखता है। स्त्रियों की सदा मौजूद भागेदारी के इन नकार ने ही विद्वानों को दलित स्त्रियों को स्वायत्त 'अलग-आवाज' की नयी अवधारणा प्रस्तुत करने के लिए मजबूर किया।

1980 का दशक जाति अस्मिताओं और चेतना के अचानक विस्फोट के लिए जाना जाता है; साथ ही इस दशक में जाति व इसकी सामाजिक परिवर्तनों में भूमिका पर सैद्धांतिक व राजनीतिक बहसों काफी गर्म रहीं (कोठारी, 1994)। 1990 के शुरुआती सालों में क्षेत्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर स्वतंत्र दलित स्त्री संगठन काफी दृढ़ता से आगे आये और उन्होंने कई अहम सैद्धांतिक व राजनीतिक चुनौतियाँ पेश कीं, जिनमें स्त्रीवाद के ब्राह्मणवादी व दलितों के पितृसत्तात्मक चेहरे को बेनकाब करना भी शामिल था। स्वतंत्र दलित स्त्री संगठनों के निर्माण ने प्रारंभ में वामदलीय महिला संगठनों और स्वायत्त महिला गुटों में गंभीर बहस को न्यौता दिया। हालाँकि ये बहस अब शांत हो गयी लगती है तथा यह चुप्पी और स्त्रीवादी राजनीति पर पुनर्विचार का अभाव यही जताता है कि अनेकानेक स्त्रीवादी नजरिये अपने आदर्शों के स्तर पर दिग्भ्रमित हो गये हैं अर्थात् दलित स्त्री-संगठनों के अलगाव के दावे को एक और स्त्रीवादी दृष्टिकोण के रूप में स्वीकार कर लिया गया है और 'भिन्नता' के इस ढाँचे के अंतर्गत जाति के मुद्दों को मात्र दलित स्त्री संगठनों की जिम्मेदारी मान लिया गया है। एक-दूसरे के रुख की जाँच-पड़ताल का अभाव तर्क और विवेक की कमी को दर्शाता है जिससे समकालीन स्त्रीवादी राजनीति के दूरगामी लक्ष्यों का पुनरावलोकन मुश्किल हो जाता है और साथ ही दलित स्त्री संगठनों द्वारा प्रस्तुत नये दृष्टिकोण को और धारदार बनाने में भी असफलता हाथ लगती है। यह लेख इनमें से कुछ मुद्दों को बहस के लिए सामने रखने की कोशिश है।

आलेख को चार भागों में संयोजित किया गया है। पहला भाग स्त्रीवादी विवेचना की बदलती श्रेणियों का मुआयना करता है और 'भिन्नता' की श्रेणी में इस विवेचना में केन्द्रीय स्थान पा लेने की प्रक्रिया पर नजर डालता है। इसके लिए स्त्रीवाद की कुछ सारगर्भित श्रेणियों के पिछले इतिहास के सफर पर चलना होगा। स्त्रीवादी राजनीति के लिए जरूरी है कि हाशिये पर की स्त्रियों की इस 'भिन्नता' को उनके वास्तविक संघर्षों के इतिहास के स्तर पर स्थापित किया जाए। दूसरे भाग में दलित स्त्रियों की 'अलग आवाज' को ऐतिहासिक पहचान देने की यही कोशिश की गयी है। सत्यशोधक

व अम्बेडकरी आंदोलनों के जरिये संघर्ष की सतत् श्रृंखला को इतिहास के पन्नों तक लाया गया है। यह दलील भी दी गयी है कि भारत के ऐतिहासिक मानचित्र में इन संघर्षों के अंकन से चटर्जी (1989) के 'महिलाओं के मुद्दों के राष्ट्रीय समाधान' वाली उस व्यवस्था को चुनौती मिलती है, जिसे हम अब तक जेण्डर व राष्ट्र के अधिकांश सिद्धांतों के स्रोत की तरह लेते आये हैं। तीसरा भाग 1970 के दो महत्वपूर्ण सामाजिक आंदोलनों-दलित व महिला आंदोलनों में दलित स्त्रियों की आवाज को नकारे जाने की मंशा की जाँच-पड़ताल करता है। मंडल-मस्जिद के बाद वाले दौर में महिला आंदोलन द्वारा अपनाये गये मुद्दों पर नजर डालते हुए इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि 1990 के वर्षों में दलित स्त्रियों की उभरती आवाज ने स्त्रीवादी राजनीति के पुनर्विश्लेषण के लिए अहम चुनौती रखी। चौथे और अंतिम भाग में रेखांकित किया गया है कि दलित स्त्रियों की अलग आवाज उनकी 'भिन्नता' को नाम देने मात्र का मुद्दा नहीं है। 'भिन्नता का नामकरण' तो अस्मिता की संकीर्ण राजनीति को जन्म देता है इसकी बजाय 'भिन्नता' पर यह जोर जाति व जेण्डर को चर्चा के केन्द्र में लाने की तरह पढ़ा जाए और दलित स्त्रीवाद के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश की तरह देखा जाए। आलेख का बड़ा हिस्सा महाराष्ट्र में समकालीन स्त्री आंदोलन की हमारी समझ और उसमें हमारी हिस्सेदारी से प्रेरित है।

I

स्त्रीवादी सिद्धांत : 'भिन्नता' से और अधिक 'भिन्नता' तक

1970 के वर्षों में स्त्रीवाद का विकास वामपंथ से मतभेद के चलते हुआ था। इस मतभेद की जड़ में स्त्रीवादी सैद्धांतिकी के तीन मुख्य आधार थे स्त्री, उसके अनुभव तथा निजी राजनीति (ग्रांट, 1993)। हालाँकि राजनीतिक वितण्डों के रूप में ये श्रेणियाँ बड़ी ताकतवर दिखाई देती हैं, लेकिन उनकी वजह से सिद्धांत के स्तर पर कई समस्याएँ सामने आईं। 'स्त्री नामक श्रेणी सम्पूर्ण स्त्रीजाति के लिए प्रयुक्त की गयी, क्योंकि इस सम्पूर्ण जाति का दमन स्त्रीत्व के कारण किया जा रहा है। तीनों श्रेणियों को एक समुच्चय की तरह लिया गया और अक्सर इन्हें जाति, आर्थिक वर्गों और नृजाति की सीमाओं से परे समझा गया। अब क्योंकि 1970 के दशक की अधिकांश मुखर स्त्रीवादी श्वेत, मध्यवर्गीय और शिक्षित थीं तो उनके ही अनुभव को स्त्री का सार्वभौमिक अनुभव मान लिया गया। इसीलिए ऐसे भावुक नारे जैसे 'सभी औरतें निगर (Digger) है' उछाले गये (रुबिन, 1969)। वामपंथियों की स्त्री मुद्दों सम्बन्धी दुविधा का तोड़ इस दावे में देखा गया कि सभी स्त्रियाँ एक दूसरे से जुड़ी हैं और फिर 'ज्ञान के निजी अनुभव' स्त्रीत्व के सर्वव्यापक अनुभव का आधार बन गये। इस तरह 'अनुभव' निजी राजनीति का आधार तो बना ही, साथ ही शोषण को परिभाषित करने वाला इकलौता विश्वस्त, लेकिन मिथकीय औजार भी (ग्रांट, 1993)। विवेचना की इस परिस्थिति से कम से कम तीन पूर्वधारणाएँ हम निकाल सकते थे। एक, पुरुषीय प्रभुत्व का एक विकसित तंत्र हमारी जिन्दगी में मौजूद है, यह तंत्र राजनीतिक है और यह कि राजनीति में सभी शक्ति-सम्बन्ध शामिल हैं, चाहे वे सार्वजनिक क्षेत्र में दिखाई देते हों या नहीं (यानी इस तरह निजी) को राजनीतिक घोषित कर दिया गया, जिसमें अंतरंग सम्बन्धों में

पुरुषीय सत्ता पर ध्यान केन्द्रित हो गया और राज्य या पूँजीवाद से संघर्ष पृष्ठभूमि में चला गया। सिद्धांतों के इस विचलन से यानी 'स्त्री' व 'निजी अनुभवों' की वैचारिक श्रेणियों के सक्रिय होने का ढाँचागत परिणाम यही हो सकता था कि अश्वेत स्त्रियाँ स्त्रीवाद के दायरे से बाहर हो जाएँ।

सैद्धांतिक बहसों के केन्द्र में पितृसत्ता, उसका भौतिक आधार, उत्पादन के तरीकों और उन तरीकों के विभिन्न स्तरों पर पितृसत्ता का हठ भरा नियंत्रण ये सब मुद्दे थे। उग्र स्त्रीवादियों व समाजवादियों ने इन मुद्दों को पूँजीवादी जरूरतों बनाम पुरुषीय नियंत्रण के द्वैत के चश्में से देखा। स्त्रीवादियों और समाजवादियों के बीच फर्क स्त्री-शोषण के कारणों की तह में जाकर खोज करने में विश्वास रखते थे, यानी दोनों धड़ों ने एक ही सवाल उठाया, 'स्त्रियों के दमन का मूल कारण क्या है?'। लेकिन 1980 के वर्षों में यह सहमति खत्म हो गयी और 'भिन्नता' ही स्त्रीवादी विवेचना के केन्द्र में आ खड़ी हुई (बेरेट व फिलिप्स, 1992)।

'भिन्नता' की इस वैचारिक श्रेणी को विवेचना का मुख्य विषय बनाने में बहुत से कारकों ने एक के बाद एक अपनी भूमिका निभाई। इनमें शामिल थे भाषा व संस्कृति पर अधिक ध्यान देना, राजनीतिक अर्थनीति का बहिष्कार, सर्वसम्मति को अस्वीकार करके भिन्नता को तरजीह देना, समूह को दरकिनार करके एक विखंडित व अस्थिर नागरिक पर दाँव लगाना, हाशिये पर स्वयं की मौजूदगी का उत्सव और फौरी तौर पर किये गये सभी विश्लेषणों का नकार (वुड, 1996)। नजरिये में यह बदलाव मुख्यतः निम्न तरीकों से लाया गया

1. व्यावहारिक समाजवाद का विघटन और इसकी वजह से एंग्लो-अमेरिकन शिक्षण संस्थाओं, मार्क्सवाद के अकादमिक रुतबे में कमी
2. अश्वेत व तीसरी दुनिया के स्त्रीवादियों द्वारा श्वेत, मध्यवर्गीय स्त्रीवाद का लगतार गहन राजनीतिक परीक्षण। यह परिवर्तन स्वागत योग्य था और इसके कारण असमानता पैदा करने वाले विभिन्न हथियारों की जटिल अंतर्क्रिया का सूक्ष्म स्तर पर विश्लेषण संभव हो सका। जैसे कि अश्वेत स्त्रीवादियों ने 1970 की लिंग/ आर्थिक वर्ग बहस पर सवाल उठाया और कहा कि इनमें से किसी एक को असंगत महत्त्व न देकर लिंग, वर्ग व जाति के बीच जटिल अंतर्संबंधों को स्पष्ट करना जरूरी है, लेकिन एक दूसरे स्तर पर ये विश्लेषण संस्कृति की ओर अधिक मुड़ गये और अश्वेत, अफ्रो-अमेरिकन चिकाना, ऐशियाई आदि विभिन्नताओं को समारोह पूर्वक घोषित करना इनका मुख्य काम रह गया।
3. मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों में बढ़ती रुचि जिसके कारण 'लैंगिक भिन्नताओं' को सकारात्मक व अपरिवर्तनीय माना जाने लगा। उदाहरण के तौर पर स्त्रीवादी लेखन में 'मातृत्व' का गुणगान एक सकारात्मक, भिन्न अनुभव की तरह किया गया, जिसे सिर्फ स्त्रियाँ ही भोग सकती हैं। यहाँ यह बता देना जरूरी है कि यह बदलाव नये दक्षिणपंथ के लिए भी सुविधाजनक था, जो उस समय अपने आदर्शों में स्वतंत्र बाजार के मूल्य, नव-राष्ट्रवाद व मर्यादा की अवधारणाएँ जोड़ने की कोशिश कर रहा था।

4. उत्तर आधुनिकता के साथ स्त्रीवाद का बढ़ता जुड़ाव। मोटे तौर पर इसका अर्थ निम्न दो रुखों में से एक का चुनाव था :

(i) सांस्कृतिक स्त्रीवाद वाला रुख जो मानता है कि सिर्फ स्त्रीवादियों को ही स्त्री जाति की पड़ताल करने और उस पर लिखने-बोलने का अधिकार है। अतः निष्क्रियता निष्क्रियता न रह कर शांतिप्रियता कही जाने लगती है और भावुकता को प्रश्रय देना प्रोत्साहित करना माना जाने लगा है, आदि आदि, यानी चुनौती इस प्रयास को नहीं दी जा रही थी कि स्त्री को एक परिभाषा में जकड़ दिया गया है, बल्कि वर्चस्ववादी पुरुष द्वारा दी गयी परिभाषा मात्र पर प्रश्न उठाये गये।

(ii) नामरूपवाद वाला रुख जिसमें यह तर्क दिया गया कि 'स्त्री' नाम की कोई सार्वभौमिक श्रेणी अस्तित्व में ही नहीं रह सकती यह मात्र कल्पना की उपज है, क्योंकि कई सारे फर्क (जाति, वर्ग, आदि) हैं, जो भिन्न स्त्री समूहों को अलग-अलग स्वरूप में गढ़ते हैं।

यह दलील मुद्दों की राजनीति को भिन्नता की बहुलता की राजनीति से पीछे धकेल देती है (एलकॉफ, 1988)। और इसलिए स्त्रीवादी राजनीति खत्म ही हो गयी, क्योंकि अब स्त्रीवाद के लिए मुख्य चुनौती स्त्रियों के बीच आ बैठी इस भिन्नता को खंडित करना व नष्ट करना हो गयी।

इस प्रकार 'भिन्नता' की वैचारिक श्रेणी प्रयोग करने के कारण स्त्रीवादी अब स्त्रीत्व के उन पहलुओं पर भी गर्व करने लगे, जिन्हें पहले निम्न स्तर का समझा जाता था। साथ ही विभिन्न राष्ट्रीयताओं जातियों, वर्गों की स्त्रियों की भिन्न आवाजों को महिमामंडित किया जाने लगा यानी जातीयता, पितृसत्ताओं, श्रमिकों के बीच का काम अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन और पूँजीवाद के ढाँचों को जाँचे-परखे बिना स्त्रियों की अनेकता को बखाना गया। इसलिए सभी अध्ययन अस्मिताओं, स्वानुभूतियों और सबके प्रतिनिधित्व पर केन्द्रित होने लगे।

यहाँ पहुँच कर, इस तथ्य को जानना जरूरी है कि हालाँकि जाति, लिंग व ऐसी अन्य भिन्नताओं पर आधारित पहचानों का उभार देखने में आया और इन भिन्नताओं को नाम दिये गये, लेकिन यह तो जरूरी नहीं कि इन भिन्नताओं का महत्त्व समझने के लिए हम 'अनेकता' और 'भिन्नताओं' की उत्तर-आधुनिक समझ को ही अपनाएँ। कहने का अर्थ यह है कि यद्यपि भिन्नता के बोध ने अश्वेत व तीसरी दुनिया की स्त्रियों को अपने शोषण को अभिव्यक्त करने का मौका दिया, लेकिन विवेचना और राजनीति की दृष्टि से इस औजार की उपयोगिता बहुत कम है। 'भिन्नता को परिभाषित' करने या 'भिन्न आवाज' पर ध्यान केन्द्रित करने की बजाय स्त्रीवादी राजनीति के लिए उन सामाजिक संबंधों की तह में जाना जरूरी है, जो इस भिन्नता को शोषण के औजारों में बदल देते हैं। अश्वेत



स्त्रीवाद लेखन के बाजार में लोकप्रिय होने के बावजूद अश्वेत स्त्रीवादी राजनीति जिस गतिरोध में फँस गयी थी, वह हमें याद रखना होगा। और तब कुछ अत्यंत मुखर अश्वेत स्त्रीवादियों (जैसे पी एच कोलिस) ने भी अपने लेखन में तुलनात्मकता की ओर रुख कर लिया। उदाहरण के लिए निम्न वक्तव्य देखें, "अश्वेत स्त्रीवादी विचार समूचे दृश्य के मात्र एक पहलू का प्रतिनिधित्व करता है..बहुतेरे समूहों के पक्षों को समझने से ही सामाजिक वास्तविकता

की पूरी तस्वीर हमारे सामने आ सकेगी।" (कोलिस, 1990 : 234)। अर्थात् यहाँ किसी एक विचारधारा को खास मानने से इन्कार है और कोलिस का उद्देश्य शोषितों के अनुभवों से पैदा ज्ञान और शोषितों की आत्मपरकता को समझ कर पैदा ज्ञान के बीच फर्क को समझना है (मान व केली, 1997)।

तो हमें जोर इस बात पर देना चाहिए कि 'भिन्नता' और बहुत सी आवाजों पर ध्यान देने

की बजाय हम भिन्नता को शोषण में बदलने वाले सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करें। इसके लिए हमें वर्ग, जेण्डर, जाति आदि के विभिन्न श्रेणीक्रमों के बीच अंतर्संबंधों और अवस्थाओं के सांस्कृतिक व भौतिक पहलुओं को खोज निकालना होगा। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है 'भिन्नता' को विचारधारा में बदल लेना। इस बिन्दु पर हम लेख के अन्त में फिर लौटेंगे। समकालीन अश्वेत स्त्रीवाद के राजनीतिक गतिरोध से ये सबक सीखने के बाद अगले भाग में हम-कोशिश करेंगे कि दलित स्त्रियों के संघर्षों में उनकी आवाज की 'भिन्नता' की जड़ें इतिहास में खोजें। आधुनिक भारत की इतिहास लेखन परंपरा के अंतर्गत दलित स्त्रियों के संघर्षों का ऐतिहासिक पुनर्लेखन कई समस्याएँ पैदा करने वाला कार्य है, क्योंकि यह राष्ट्रीयता की हमारी स्थापित समझ और 19वीं शताब्दी में भारत में स्त्रियों की स्थिति पर प्रश्न खड़े करने लगता है।

II

भिन्नता का ऐतिहासिकरण : गैर-ब्राह्मण आंदोलनों में स्त्रियाँ

उपनिवेशी भारत के उत्तरार्द्ध का इतिहास हमेशा भारतीय राष्ट्रीयता को केन्द्रित करके लिखा गया है। इस सीमा तक कि माना जा सकता है कि उस वक्त की राजनीतिक सक्रियता व चिन्तन का बोध केवल राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद व साम्प्रदायिकता की वैचारिक श्रेणियों के जरिये ही हो सकता है। कुछ उग्र इतिहास-अभिलेख हालाँकि खेतिहरों, मजदूरों और अन्य वंचित समूहों की स्वायत्त भूमिका पर जोर देते हैं, लेकिन वे भी उपनिवेशी भारत के इतिहास और भारतीय राष्ट्रीयता को एक ही बना देते हैं (सरकार 1997)। ओमवेट (1976, 1993, 1994) पाटिल (1982) और एल्योसियस (1997) के लेखन में आधुनिक भारत के इतिहास की गैर-ब्राह्मण पुनर्चना में निचली जाति की जनता की अश्रेणीकृत, लोकतंत्र

समर्थक सामूहिक आकांक्षाएँ रेखांकित हैं, जिन्हें उपनिवेश-विरोधी राष्ट्रीय धारा के मुख्य इतिहास में कहीं स्थान नहीं मिला। तथ्य यह है कि इतिहास के इन भिन्न स्वरूपों पर 'सहयोगी विवरणों' का लेबल चस्पां करके मुख्यधारा के राष्ट्रवादी इतिहास के सामने नजरअंदाज कर दिया गया।

स्त्रीवादी इतिहास लेखन ने जेण्डर और पितृसत्ताओं को पुनर्परिभाषित करने में क्रांतिकारी कदम उठाये हैं, "सुधारों के उदारवादी गलीचे के नीचे छुपा गुप्त इतिहास बाहर खींच लाया है" (वैद व संगारी 1989)। इतिहास में झॉकने के इन स्त्रीवादी प्रयासों ने हमेशा पितृसत्ता के जाति, वर्ग, नृजाति आदि के श्रेणीक्रमों के साथ गठजोड़ व सुधारों के बीच सम्बन्धों को समझने की चिन्ता दिखाई है। वैद व संगारी (1989) घर व कार्यस्थल दोनों ही जगहों पर "स्त्रियों के नियंत्रण के पितृसत्तात्मक तरीकों के आधुनिकीकरण" और "जेण्डर संबंधों के लोकतंत्रीकरण में स्पष्ट भेद का खुलासा करते हैं। लोकतंत्रोन्मुख आंदोलनों ने खेतिहर मजदूर और कामकाजी स्त्रियों के लिए जहाँ क्रांतिकारी संभावनाएँ पैदा कीं, वहीं उनमें कई अंतर्विरोध भी निहित थे, इसे इन दोनों स्त्रीवादियों ने रेखांकित किया है। इन आंदोलनों को जहाँ 'पारिवारिक व जातीय पहचानों के खिलाफ और उनसे आगे जाकर 'स्त्रियों के वर्ग अधिकारों' को आगे बढ़ाने वाला माना जाता है; वहीं ऐसे ही, लेकिन गैर-ब्राह्मण लोकतांत्रिक आंदोलनों को अक्सर भुला दिया गया, जिन्होंने जाति व जेण्डर के मुद्दों पर सशक्तीकरण की जोरदार कोशिश की। आधुनिक भारत के स्त्रीवादी इतिहास के अधिकांश विवरणों का यही हथ्र हुआ, कुछ खास अपवादों को छोड़ कर (ओमवेट 1976, पाटिल 1982, ओ हेनलॉन 1994, भागवत 1990, वी. गीता 1992 व चक्रवर्ती 1998)।

हाल के स्त्रीवादी अध्ययनों ने उत्तर-आधुनिक व उत्तर संरचनात्मक नजरिया अपनाया, जिसका परिणाम यह हुआ कि 'पश्चिम प्रेरित-सुधारों की सीमाओं पर जरूरत से ज्यादा ध्यान दिया जाने लगा (सरकार 1997)। उपनिवेश काल के अधिकतर स्त्रीवादी अध्ययन पार्थ चटर्जी के घर/ बाहर के फ्रेम और स्त्री-मसलों के राष्ट्रीयतावादी समाधानों से परे नहीं जा सके। चटर्जी के निजी/ अन्य के सैद्धांतिक ढाँचे में वे एक नये प्रकार के विलोम जोड़ों से परिचय कराते हैं जैसे घर/ दुनिया या निजी/ सार्वजनिक, और तर्क देते हैं कि राष्ट्रीयतावादी प्रति-आदर्श ने सांस्कृतिक क्षेत्र को भौतिक व आध्यात्मिक दो हिस्सों में अलग कर दिया है। उपनिवेशीय नागरिक को पश्चिमी सभ्यता से भौतिक जगत की तकनीकें सीखना जरूरी था और साथ ही इस भौतिकता में निहित आध्यात्मिक सार को बचाये रखना था। दलील यह रखी गयी कि ये नये द्वैत जेण्डर-आधारित सामाजिक भूमिकाओं से मेल खाते हैं; और इस काल में ही 'नवीन स्त्री' की परिभाषा इस ढाँचे के अंतर्गत गढ़ी गयी। अतः उसका स्वरूप आम/ निम्नवर्ग की स्त्री से बहुत अलग होना ही था। इसके बाद वे यह भी दावा करते हैं कि 19वीं शती में स्त्री संबंधी सवाल देश के मुख्य मुद्दों में शामिल थे, लेकिन 20वीं शती की शुरुआत में ये सवाल सार्वजनिक पटल से गायब हो गये। और ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि राजनीतिक मुद्दे उन पर हावी हो गये, बल्कि इसलिए कि राष्ट्रवादी आंदोलनों ने स्त्रियों के सवाल को उपनिवेशी सरकार

के साथ बातचीत में राजनीतिक मुद्दा बनाने से इंकार कर दिया। चटर्जी दलील देते हैं कि मध्यवर्ग की महिलाओं की जिन्दगी में आये बदलाव राजनीतिक सरगर्मियों के दायरे से बाहर की चीज थे। उनके अनुसार अब घर संघर्ष की मुख्य भूमि बन गये, जिससे राष्ट्रीयतावादी स्त्री-मुद्दों का 'हल' निकाल चुके थे। इसलिए दलित व कामकाजी स्त्रियों द्वारा इस क्षेत्र में फिर से संघर्ष को प्रतिबंधित कर दिया गया। इस कालखंड को चटर्जी 'स्त्री-मुद्दों के समाधान' के समय की संज्ञा देते हैं; लेकिन जैसा कि हम बाद में देखेंगे, यह वही कालखण्ड है जब अंबेडकरी आंदोलन में स्त्रियों की सहभागिता अपने चरम पर थी। चटर्जी के फ्रेम में इन आंदोलनों को पश्चिम-प्रेरित प्राच्यवाद कहकर नकार दिया जाता, क्योंकि उन्होंने उपनिवेशी नीतियों व पश्चिमी आदर्शों के कुछ पहलुओं को अपने हित के लिए प्रयोग किया था (सरकार 1997)। यदि दलित स्त्रियों के संघर्षों की 'भिन्नता' को इतिहास में जगह देना है तो इन्हें फिर से लिखना होगा। जिसे अब तक बहिष्कृत रखा गया है, उसे इतिहास के मानचित्र में सही/ नये नामों के साथ उसकी उचित जगह पर स्थापित करना होगा।

इस कड़ी में एक बहुत अहम प्रतिपक्षी-कथानक ज्योतिबा फूले का शूद्रो, अति शूद्रों व स्त्रियों का ब्राह्मणवाद से मुक्ति का अभियान है। उन्होंने वर्णाश्रम के आधार वाले राम-राज्य की जगह समता पर आधारित बलि-राज्य की अवधारणा रखी और इस तरह इतिहास के आर्य-सिद्धांत को उलट कर मुक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाने को कहा। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की बात करते हुए उन्होंने ऊँची जाति के पुरुष सुधारकों द्वारा पितृसत्ता को नये-नये रूपों में ढालने की ओर ध्यान आकर्षित किया। बाध्यकारी वैधव्य के भौतिक व दैहिक दुष्परिणामों को पहचान कर उन्होंने अपने सुधार कार्यों को बेहतर बनाया।

मुक्ताबाई (फुले के विद्यालय की एक छात्रा) अपने एक निबंध 'माँग वह महार जाति की लड़कियों के बारे में' में निचली जातियों को उनकी जमीनों से वंचित करने, उन्हें शिक्षा से दूर रखने के षड्यंत्रों की ओर इशारा-करती हैं, साथ ही उस जटिल पदानुक्रम की ओर भी, जिसमें भिन्न निचली जातियों को कभी कम और कभी अधिक अछूत बना दिया गया है। फिर वह एक स्त्री के निम्न जाति में और ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के अनुभवों की तुलना करती हैं (चक्रवर्ती 1998)। सावित्री बाई फुले के पत्र ज्ञान व ताकत के बीच संबंधों के बारे में उनके गहरे बोध का परिचय देते हैं और शूद्रों व स्त्रियों की ज्ञान तक लोकतांत्रिक पहुँच की सख्त जरूरत का हवाला देते हैं।

ताराबाई शिंदे का स्त्रियों के शोषण के खिलाफ लिखा गया लेख 'स्त्री-पुरुष तुलना' (1882) सत्यशोधक परंपरा के भीतर की बात करता है, जिसमें न सिर्फ ब्राह्मणवादी पितृसत्ता पर वार किया गया है, बल्कि साथ ही कुनबी व अन्य गैर-ब्राह्मण जातियों में प्रचलित पितृसत्तात्मक मूल्यों पर भी। ताराबाई विऔद्योगीकरण, उपनिवेशवाद और स्त्री-देह को उपभोक्तावस्तु में बदल देने जैसी प्रक्रियाओं में गठजोड़ की ओर भी ध्यान आकर्षित करती हैं। (भागवत 1997)।

बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में शिवराम जानोबा काम्बले

द्वारा प्रेरित अभियानों में जाति-आधारित वेश्यावृत्ति के खिलाफ 'मुरलियों' के विरोध का भी समावेश है। 1930 में अम्बेडकरी आंदोलन के अंतर्गत दलित महिलाओं ने कई-स्त्री-सभाओं व सम्मेलनों का आयोजन किया। यह इसलिए संभव हुआ कि अम्बेडकरी आंदोलन प्रत्येक आम सभा के साथ ही स्त्रियों के बालविवाह, बाध्यकारी वैधव्य और दहेज के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया, क्योंकि उनकी राय में ये प्रथाएँ ब्राह्मणवादी थीं। महाड़ सत्याग्रह में स्त्रियों की भागेदारी तथा इन्डिपेन्डेंट लेबर पार्टी व शिड्यूल् कास्ट फेडरेशन को उनका समर्थन दस्तावेजों में मौजूद है (मून व पवार 1989)। स्त्रियों ने बड़ी संख्या में धर्मान्तर को माना, क्योंकि उन्हें एक ऐसे धर्म की जरूरत थी, जो उन्हें समानता का दर्जा दे सके। अम्बेडकरी आंदोलन में स्त्रियों की भागेदारी इस तथ्य की रोशनी में देखनी चाहिए कि अम्बेडकर के जाति-सिद्धांत में स्त्री-शोषण के स्रोत का भी उल्लेख है और इन दोनों के बीच घनिष्ठ संबंध को देख पाये।

नेस्फील्ड, रिजले, केतकर व अन्य द्वारा दी गयी जाति की परिभाषाओं का विश्लेषण करते हुए अम्बेडकर इन परिभाषाओं में 'छुआछूत' की धारणा को समझ पाने की अक्षमता की ओर इंगित करते हैं। उनका तर्क है कि अंतर्जातीय विवाहों की पूर्ण अनुपस्थिति ही जाति व्यवस्था का सार-तत्व है (अम्बेडकर 1992)। इसलिए जाति-बाह्य विवाहों पर अंतःजाति विवाहों का अध्यारोपण और इस लक्ष्य को पाने के लिए अपनाये जाने वाले तरीकों को समझने पर ही जाति की अवधारणा को सही रूप में समझा जा सकता है। एक विस्तृत विश्लेषण द्वारा अम्बेडकर यह समझते हैं कि किस प्रकार एक समुदाय में दोनों लिंगों की विवाह-योग्य इकाइयों के बीच संख्यात्मक संतुलन रखा जा सकता है। अतः वे तर्क देते हैं कि सती, बाध्यकारी वैधव्य और बालविवाह जैसी प्रथाएँ ब्राह्मणवाद द्वारा इसलिए चलाई गयी ताकि जाति-सीमाओं पर नियंत्रण रखा जा सके। यानि कि वे इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि स्त्रियों की यौनता पर अंकुश लगा कर ही जाति-व्यवस्था को कायम रखा जा सकता है और इसीलिए स्त्रियाँ ही अंततः इस व्यवस्था को खोलने वाला द्वार सिद्ध हो सकती हैं (अम्बेडकर 1992 : 90)। महाड़ सत्याग्रह में स्त्रियों की सभा में दिये गये उनके भाषण में जाति आधारित शोषण व स्त्री-अधीनता के बीच गठजोड़ का जिक्र इसी आधार पर हुआ है और वे आह्वान करते हैं कि ऊँची जाति की स्त्रियों के तथाकथित सतीत्व और निचली जाति की स्त्रियों की अपवित्रता की मान्यता को चुनौती दी जाए। उनके अनुसार स्त्री शोषण के विभिन्न स्तर उनकी जाति से तय होते हैं और इसीलिए 'दलित' व 'स्त्री' दोनों होना शोषण का एक विशिष्ट स्वरूप है, जिस पर चर्चा होनी चाहिए (परदेशी, 1997)।

लेकिन स्त्रियों की ये विवादित गैर-ब्राह्मण पहचानें 1931 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा प्रस्तुत मूल अधिकारों के प्रस्ताव से खामोश कर दी गयीं। इस प्रस्ताव में सभी स्त्रियों की स्वतंत्रता, न्याय, गरिमा और समानता को राष्ट्र-निर्माण के लिए आवश्यक माना गया। राष्ट्र के नागरिक एक-दूसरे से किस प्रकार संबंधित हैं, इसे अलग-अलग ढंग से अभिव्यक्त कर रहे प्रतियोगी राजनीतिक दृष्टिकोणों को इस तरह एक ही धरातल पर ला खड़ा किया गया।

आंदोलन के अम्बेडकर के बाद वाली अवस्था में स्त्रियों की सहभागिता में काफी कमी आ गयी, सिवाय दादा साहेब गायकवाड़ के नेतृत्व में हुए भूमि अधिकारों के लिए संघर्ष तथा नामान्तर आंदोलन के, जिसमें स्त्रियाँ फिर बड़ी संख्या में आगे आईं। हालाँकि यह भी सच है कि देश के अलग-अलग भागों में हुए संघर्षों में स्त्रियों की इस सहभागिता में अंतर देखा जा सकता है। गुरु (1998) द्वारा किये गये एक ताजा अध्ययन में अकोला क्षेत्र में महिला मंडलों के जरिये दलित स्त्रियों के निरंतर समवेत प्रयासों का उल्लेख है। ये मण्डल वैसे तो मुख्यतः त्रिसरण व पंचशील की अवधारणाओं पर आधारित हैं, लेकिन ये अपने सदस्यों को अम्बेडकरी विचारधारा से भी रू-ब-रू कराते हैं। अम्बेडकरी आंदोलन के बाद वाले वर्षों में भी इन क्षेत्रों की दलित स्त्रियाँ सांस्कृतिक पटल पर सक्रिय रही हैं। उनकी रचनाएँ (जिन्हें 'ओवी' और 'पालना' कहा जाता है) राजनीतिक बोध से अभिप्रेरित हैं। इसकी एक बानगी इस ओवी में देखी जा सकती है।

मायादारी निब। निबाले फुल्लेरा

बाबा साहेबान्ची कोटाले सोन्याची झलाई (P 25)

(अम्बेडकर के कोट में लगी सुनहरी गोट नेहरू के कोट में लगे गुलाब से कहीं ज्यादा कीमती है।) नेहरू और अम्बेडकर को प्रतियोगी बना देने वाला यह गीत दरअसल दलित व कांग्रेस राजनीति के बीच अंतर्विरोधों का प्रतीक है।

इन सब प्रतियोगी-विवरणों का विश्लेषण यही जाहिर करता है कि दलित स्त्रियों की 'भिन्नता' या 'अलग आवाज' हाल में उभरी अस्मितावादी राजनीति का हिस्सा नहीं है, अथवा मात्र कुछ प्रामाणिक, लेकिन निजी अनुभवों से नहीं उपजी है, बल्कि इसके पीछे वास्तविक संघर्षों का लम्बा इतिहास है। दलित स्त्रियाँ बाबा साहेब तथा अन्य दलित नेताओं के साथ अपने परिवारों की मुलाकातों के पारिवारिक मौखिक इतिहासों को एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी करती रही हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि "1970 के दो बड़े सामाजिक आंदोलनों यानी दलित आंदोलन व महिला आंदोलन में दलित स्त्रियों की यह निरंतर मौजूद अलग आवाज सुनाई क्यों नहीं दी?" अगले खण्ड में इस सवाल के जवाब मुख्यतः महिला आंदोलन की जाँच-पड़ताल से ढूँढने की कोशिश है, साथ ही दलित आंदोलन का भी एक छोटा उल्लेख इसमें शामिल है।

III

दलित चेतना का बाहुबलीकरण व स्त्री चेतना का सवर्णीकरण

1970 और 80 के प्रारंभिक वर्षों में हुए बड़े सामाजिक आंदोलन कई नये संगठनों और मोर्चों के जन्म के भी साक्षी हैं, जैसे श्रमिक मुक्ति संगठन, सत्यशोधक कम्युनिस्ट पार्टी, श्रमिक मुक्ति दल, युवक क्रांति दल आदि और इनमें से कोई भी दलित स्त्रियों का उनके क्रांतिकारी कार्यों में खासा अहम स्थान रहा। मात्र दो दलों में यह नहीं हो सका दलित पेन्थर और महिला आंदोलन; क्योंकि ये गुट मुख्यतः वाम स्त्री मोर्चों और उसी वक्त उभरे स्वायत्त स्त्री समूहों द्वारा बनाये गये थे। दलित पेन्थर ने 1970 की सांस्कृतिक बगावत में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया, लेकिन उसके लेखन और कार्यक्रम दोनों में दलित स्त्रियाँ अपनी 'माँ' व 'दैनिक शोषण शिकार' की भूमिकाओं में ही सिमटी रहीं। वामपंथी रुझानों वाले महिला संगठनों ने

कामकाजी स्त्रियों व आर्थिक मसलों पर अच्छा कार्य किया, वहीं स्वायत्त महिला दलों ने स्त्रियों के खिलाफ हिंसा के मसले पर राजनीतिक व सार्वजनिक क्षेत्रों में आवाज उठाई। इन सबसे पितृसत्ता बनाम वर्ग-शोषण पर गंभीर बहस शुरू हुई, लेकिन दोनों ही पक्षों ने ब्राह्मणवाद के मुद्दे को छुआ ही नहीं। पहले पक्ष के लिए जहाँ 'जाति' 'वर्ग' में ही अंतर्निहित थी, वहीं दूसरे के लिए स्त्रियों के बीच बहनापे की भावना मुख्य थी। सभी स्त्रियों को शोषक तंत्र का 'शिकार' और इसलिए 'दलित' कहा गया। इससे हुआ यह कि दलित स्त्रियों के बहिष्कार की एक खास सीमित रह गया और महिला आंदोलन द्वारा प्रेरित बहनापे के कारण उसमें सवर्ण स्त्रियाँ ही रहीं। यह दलील दी जा सकती है कि दलित पैथर व महिला आंदोलनों की राजनीति और तत्कालीन मीमांसाओं के मूल में अनुभवों की श्रेणियाँ और निजी राजनीतिक महत्वाकांक्षाएँ कार्यरत थीं। इसका परिणाम यही हुआ कि मध्यवर्ग, सवर्ण स्त्रियों और दलित पुरुषों के अनुभवों को ही उत्पीड़ितों का सार्वभौमिक सत्य मान लिया गया।”

1980 के शुरुआती सालों में बने महिला-स्वायत्त दल भी मुख्यतः वामपंथी ढाँचे पर ही निर्भर रहे, हालांकि वे उसे चुनौती देने के लिए सामने आये थे (ओमवेट 1993)। जब महिला आंदोलन ने गति पकड़नी शुरू की तो काम-काज विकास, कानूनी प्रक्रिया और राज्य आदि के सामान्य जनबोध की कड़ी आलोचना उभरी और इससे कई सैद्धांतिक विरोधाभासी नुस्खों की फसल तैयार हो गयी। वर्ग बनाम पितृसत्ता की बहस ने दोनों पक्षों को राजनीतिक रूप से ही समृद्ध किया। यहाँ यह रेखांकित किया जाना चाहिए कि अधिकांश स्त्रीवादी गुटों ने मोटे तौर पर यह माना कि भारतीय संदर्भ में स्त्री-शोषण की पड़ताल में भौतिकतावादी सिद्धांतों को प्रयोग करने की जरूरत है, लेकिन इन सिद्धांतों की मदद से स्थिति को समझने के लिए कड़ी मशक्कत करनी पड़ी (ओमवेट 1993)। इस तथ्य को उस समय के कई महिला अभियानों में देखा जा सकता है। फुले व अम्बेडकर की परंपरा में पितृसत्ता व जातिक्रम के बीच अभिन्न सम्बन्ध माना गया है, लेकिन इस समझ का अभाव महिला अभियानों जैसे दहेज, बलात्कार व हिंसा विरोधी अभियानों में स्पष्ट दिखाई दिया।

स्त्रियों के खिलाफ हिंसा का विश्लेषण यदि जाति के आधार पर करें, तभी यह समझ पायेंगे कि जहाँ प्रभुत्वशाली ऊँची जातियों में यह हिंसा दहेज-हत्या, परिवार द्वारा स्त्री के घर से बाहर जाने पर अंकुश तथा उसकी यौनता पर उग्र नियंत्रण के रूप में प्रचलित है, वहीं दलित स्त्रियों के लिए सामूहिक अथवा सार्वजनिक बलात्कारों यौन हमलों और कार्यस्थल पर मारपीट का खतरा अधिक है (रेगे, 1994)। उदाहरण के लिए मथुरा बलात्कार मामले के समय महिला संगठनों द्वारा जारी वक्तव्यों पर नजर डालें NFIW व सोशलिस्ट महिलाओं ने बलात्कार को 'वर्ग' की अपनी समझ के अनुसार 'काँच' का बर्तन टूटने और इसलिए स्त्री की गरिमा को अपमानित करने से जोड़ा, AIWC व स्वायत्त महिला गुटों ने पितृसत्तात्मक बाहुबल और बलात्कार के मनोवैज्ञानिक पहलू पर जोर दिया (अकेरकर 1995, कुमार 1993)। बाद में महिलाओं द्वारा किये गये विरोध अभियानों को देखे तो नामान्तर मुहिम के दौरान मराठवाड़ा में दलित

स्त्रियों पर हुए यौन-हमलों को इन अभियानों में उचित स्थान नहीं मिला, बल्कि इस मामले को अभियान से अलग ही रखा गया। इस तरह विरोध अभियान एक इकलौते मथुरा मामले पर ही सिमटे रहे। दहेज-विरोध के मसले को भी देख लें वामपंथी महिला संगठनों ने परिवारों में पितृसत्तात्मक बल प्रयोग पर ध्यान केन्द्रित किया (कुमार 1993)। दहेज की वर्तमान प्रथाएँ विवाह के रिवाजों पर ब्राह्मणीकरण के प्रभाव से अछूती नहीं रह सकती थी। कई अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण आदर्शों ने विवाह में दहेज को बढ़ावा दिया। असल में ब्राह्मण विवाह को उपनिवेशी तंत्र ने स्थापित किया, जिसने संस्थागत रूप से दहेज का समर्थन किया। ब्राह्मणीकृत जातियों ने ब्राह्मण विवाह को विवाह के दूसरे रूपों पर हावी कर दिया और इस तरह दहेज को एक अनिवार्य रस्म की तरह मान्यता मिल गयी (शील 1997)। और फिर जाति के भीतर विवाह के नियम को बल तथा हिंसा द्वारा मान्य कराना तथा अंतर्जातीय संबंधों को सामूहिक हिंसा द्वारा नकार देना दहेज प्रथा के विश्लेषण में प्रमुख स्थान रखते हैं।

हिंसा की बात करते हुए जाति को शोषण के एक कारक के रूप में न मानने के कारण स्त्रीवादी चिन्तन मुस्लिम व स्त्रियों को तलाक और डायवोर्स के पिंजरों से आजाद नहीं रख सका। हाल में ही, टाइम्स फाउण्डेशन के लिए रजिया पटेल तथा मुस्लिम पिछड़ा वर्ग संगठन के लिए विलास सोनावने के अध्ययन स्पष्ट करते हैं कि अधिकांश मुस्लिम स्त्रियों के लिए जाति के आधार पर व्यवसाय, शिक्षा व रोजगार के मसले भी सर्वप्रमुख हैं।

तो यदि पीछे मुड़ कर देखें तो यह साफ हो जाता है कि वामपंथी महिला संस्थाएँ जहाँ जाति को वर्ग की अवधारणा में मिला रही थीं, स्वायत्त महिला गुट जाति को बहनापे की भावना पर बलिदान कर रहे थे, इस तरह दोनों ही ब्राह्मणवाद को नजरअंदाज किये रहे। आंदोलन ने दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक समुदायों की महिलाओं के मुद्दे उठाये तो, और इससे बहुत फायदा भी हुआ, लेकिन स्त्रीवादी राजनीति को सबसे अधिक वंचित समुदायों की स्त्रियों के जितना करीब जाना चाहिए था, वह उनसे नहीं हो सका। महिला आंदोलन की दूसरी लहर के दौरान हुए विरोधों व संघर्षों ने विभिन्न मुद्दों पर पितृसत्ता के खिलाफ कड़ा रुख इख्तियार किया लेकिन अब भी यौनता व यौन राजनीति जैसे मुद्दे मोटे तौर पर निजी रहन-सहन के दायरे में भी सिमटे रहे। यौनता का मसला भी जाति से गहरे जुड़ा है इसलिए ब्राह्मणवाद को चुनौती दिये बिना यौन राजनीति सिर्फ निजी जीवन-चर्चा से जुड़े स्त्रीवाद तक ही पहुँच पाई।

मंडल विरोध तथा चुन्दुरु व पिंपरी देशमुख में जाति हिंसा के समय सवर्ण स्त्रियाँ स्त्रीवादी होने के नाते स्वयं के प्रति हुए कथित अन्याय के खिलाफ खुल कर सामने आ गयी पिंपरी देशमुख में स्त्री के तौर पर तथा मंडल विरोध में नागरिक के तौर पर। मंडल विरोधी अभियान में युवा मध्यवर्ग स्त्रियों ने सभी प्रकार के आरक्षण के खिलाफ आवाज बुलंद की (यहाँ तक कि महिला आरक्षण के भी खिलाफ)। योग्यता की बलि दिये जाने पर उन्होंने शोक जताया और स्पष्ट किया कि वे देश को बचाने के लिए आगे आई हैं। उनका नारा था 'हमें कमाऊ पति चाहिए'। यौनता व जाति पृष्ठभूमि में चले

गये, क्योंकि वे नागरिक बन गयी थीं। (थारु व नीरांजन 1994)। पिंपरी देशमुख में सवर्ण पुरुषों द्वारा एक दलित कोतकल (स्थानीय बुद्ध विहार के लिए सक्रिय) की पीट-पीट कर हत्या के बाद सवर्ण स्त्रियाँ इस शिकायत के साथ सड़कों पर उतर आई कि दलित पुरुषों ने उन्होंने दावा किया कि उन्होंने अपने पुरुषों को अपनी रक्षा के लिए ललकारा था। सवाल यौन-उत्पीड़न या दलितों पर हिंसा मात्र का नहीं था, बल्कि यह था कि सामूहिक दलित प्रतिरोध से निपटने के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता किस तरह स्वयं को इस जटिल स्वरूप में ढाल लेती है।

सत्तातंत्र में दलित स्त्रियों की सरपंच/ पंच के रूप में बढ़ती संख्या तथा ज्ञान की नयी प्रक्रियाओं में उनकी बढ़ती सहभागिता (जैसे साथिन कार्यक्रम द्वारा भंवरी देवी की सार्थक पहल) ने दलित स्त्रियों के विरुद्ध पूर्वग्रहों को और बढ़ा दिया। इसका परिणाम कई प्रकार के उत्पीड़नों और अंततः बलात्कारों या उनके रिश्तेदार पुरुषों को पीटकर मार डालने जैसे कृत्यों में दिखाई दिया। ऐसी घटनाएँ स्पष्ट करती हैं कि दलित और स्त्रीवादी कार्यकर्ताओं के बीच संवाद की अत्यंत आवश्यकता है, क्योंकि स्थानीय स्तर पर जातियों के बीच सम्बन्ध जेण्डर की स्थिति को पुनर्परिभाषित करने से सुधर सकते हैं। कन्नाबीरन व कन्नाबीरन (1991) के अध्ययन में विवरण है कि किस तरह दलित खेत-मजदूरियों के सजने-सँवरने को लेकर क्षत्रिय और दलित पुरुषों के बीच बढ़ा तनाव तब जाकर कम हुआ, जब दोनों समुदायों के पुरुषों ने मिल कर कुछ फैसले लिए। यह तय किया गया औरतों को एक-दूसरे समुदायों के क्षेत्रों में जाना मना होगा। दलित स्त्रियों पर यौन हमले अक्सर उनकी जाति के पुरुष-अभिमान को दबाये रखने का एक प्रचलित हथियार थे। कुछ दलित पुरुषों ने दलील रखी कि सवर्ण लड़कियों पर छींटाकाशी करके (चुन्दुरु जैसी घटनाओं में) वे दरअसल अपने अपमान का बदला ले रहे थे। दलित व महिला आंदोलनों द्वारा प्रेरित सशक्तीकरण प्रयासों को ऐसी घटनाओं के प्रति संवेदनशील होना होगा और जाति व जेण्डर के बीच के जटिल सम्बन्ध किस प्रकार समाज में असमानता बढ़ाते हैं, इसे समझना होगा।

बाबरी मस्जिद के विध्वंस व उसके बाद की घटनाओं में स्त्रियों के हिन्दू दक्षिणपंथियों के साथ खुल कर सामने आने से समान आचार संहिता की महिला आंदोलन की माँग को धक्का लगा। एक घटना में महाराष्ट्र की दक्षिणपंथी सरकार ने बेहद कम महिला प्रतिनिधित्व की समस्या को भी निपटा लिया। अग्निशिखा मंच के गठन और इसकी नैतिकता पर नियंत्रण के खिलाफ व कामकाजी माँओं के लिए प्रस्तावों का उल्लेख यहाँ जरूरी है। पश्चिम के नकारात्मक प्रभावों से लोगों को बचाने के नाम पर महाराष्ट्र ने तड़क-भड़क व विज्ञापनों के खिलाफ जन-अभियान शुरू किया और बम्बई को 'साफ' करने हेतु वेश्याओं पर अंकुश लगाने व HIV पॉजीटिव वेश्याओं के बहिष्कार की मुहिम चलाई। जेण्डर मसले सांस्कृतिक मसले बना दिये गये, जिससे नैतिकता पर नियंत्रण की उसकी मंशा पूरी हो सके। इस सबसे यही पता चलता है कि हमारे स्त्रीवादी एजेण्डे को फिर से सूत्रबद्ध करने की, अपने मुद्दों के लिए फिर से खड़े होने की और अपने सिद्धांतों की इस तरह

पुनर्व्याख्या करने की कितनी जरूरत है कि स्त्रीवादी राजनीति ब्राह्मणवादी हिन्दुत्व की जाति/ वर्ग की अपनी समझ को ही चुनौती दे सके।

स्वयं के सैद्धांतिक बोध में इस फेरबदल के लिए ब्राह्मणवादी सामाजिक श्रेणियों को जेण्डर के नजरिये से जाँचना होगा। तभी यौन राजनीति पर चिन्तन को निजी विवरणों से आगे बढ़कर सामूहिक बहस में बदलने की संभावना बनेगी। ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था में श्रम का जाति व लिंग आधारित बँटवारा इस तरह आपस में गूँथा है कि जाति क्रम में ऊपर उठने से पहले उस जाति की स्त्रियों को घर के बाहर उत्पादक श्रम से हटा लिया जाता है। यह तथ्य इस अनुमान पर आधारित है कि सामाजिक श्रम में लगी निचली जातियों की स्त्रियों की यौनता तक पहुँच बड़ी आसान होती है। ब्राह्मणवाद कुछ और गहरे उतर कर इसका अर्थ यह लगाता है कि निचली जातियों के पुरुष अपनी उच्छृंखल स्त्रियों को नियंत्रित करने में असफल रहे हैं। परोक्ष रूप से दलित स्त्रियों को नापाक या उच्छृंखल सिद्ध कर दिया जा रहा है। इस तरह जेण्डर की विचारधारा न सिर्फ पितृसत्ता की संरचना को वैध बनाती है, बल्कि जाति व्यवस्था के पूरे तंत्र को भी (लिडल व जोशी, 1986)। अम्बेडकर के जाति-विश्लेषण को देखें तो भी यही पता चलता है कि जाति के भीतर विवाह की बाध्यता ही स्त्री-यौनता के नियंत्रण और प्रबंधन का आधार रही है। यहाँ जाति न सिर्फ श्रम का, बल्कि श्रम के लैंगिक बँटवारे और यौन श्रम का बँटवारा भी सुनिश्चित कर रही है (रेगे, 1995)। इसका अर्थ यह भी है कि पितृसत्ता के कई-कई रूप हैं, जो कभी एक-दूसरे को ढँकते नजर आते हैं तो कभी बिल्कुल अलग दिखाई देते हैं, क्योंकि इन्हें इसी तरह निर्मित किया गया है (संगारी, 1995) ब्राह्मणीकरण संस्कृतियों में संक्रमण और उनके खुद में विलय की एक सतत दुतरफा प्रक्रिया रही है तथा इसी इतिहास का सहारा लेकर ब्राह्मणवाद ने पितृसत्ता की एक सावैभौम संहिता के लिए हमेशा इंकार किया है। एक साथ कई पितृसत्ताओं का होना, ब्राह्मणवादी षड्यंत्र तथा उत्पादन के साधनों व जाति के बीच गठजोड़, इन दोनों का परिणाम है। संगारी (1995) के अनुसार, इसीलिए कई भिन्न (जाति विशेष से जुड़ी) और साथ ही एक-दूसरे को आच्छादित करती पितृसत्ताएँ हैं। इसी आधार पर वह तर्क देती हैं कि आच्छादित होती पितृसत्ताओं के कारण संगठित हुई स्त्रियाँ जाति, वर्ग या पितृसत्ता पर उनकी सहमति की मात्र आदि मुद्दों पर तो बँटी ही रहेगी। यदि स्त्रीवादी इन विभाजनों को चुनौती देना चाहते हैं तो उन्हें अपने संगठन और संघर्ष के तरीकों में उन सभी असमानताओं को जगह देनी होगी, जो पितृसत्ता से जुड़ी है, उसमें निहित हैं और उसके द्वारा रचित है।" अब हमें देखना यह है कि क्या दलित स्त्रियों की अलग हुई आवाज इन विभाजनों को चुनौती देती है? अगले भाग में हम महाराष्ट्र में स्त्री-मुक्ति के गैर-ब्राह्मण स्वरूपों को संक्षिप्त रूप में देखेंगे।

IV

स्त्री-मुक्ति का गैर-ब्राह्मण स्वरूप

1990 के दशक में दलित स्त्रियों की पहचान के कई स्वतंत्र व स्वायत्त दावे किये गये, जिनमें NFDW व ऑल इंडिया वीमेंस फोरम भी शामिल है। राज्य स्तर पर देखें तो 1995 में महाराष्ट्र

दलित महिला संगठन बना, इसके एक वर्ष पहले भारतीय रिपब्लिकन पार्टी की महिला शाखा व भुजारी महिला संघ ने मिलकर बहुजन महिला परिषद का आयोजन किया। दिसम्बर, 1996 में चंद्रपुर में विकास-वंचित दलित महिला परिषद् आयोजित की गयी और उसमें 25 दिसम्बर का दिन (जिस दिन अम्बेडकर ने मनुस्मृति को जलाया) भारतीय स्त्री मुक्ति दिवस के रूप में मनाने का प्रस्ताव रखा गया। 1997 में दलित ईसाई स्त्रियों ने ख्रिस्ती महिला संघर्ष संगठन की नींव रखी। ये अलग-अलग संगठन भिन्न गैर-ब्राह्मण विचार-धाराओं के साथ आगे आये, लेकिन साथ ही कई मुद्दों पर आपस में सहमत भी हुए जैसे स्त्री मुक्ति दिवस को मनाना व संसदीय निकायों में पिछड़ी जाति की महिलाओं के लिए आरक्षण का मसला।

दलित महिला संगठनों के उभार ने एक बड़ी बहस छोड़ दी, जिसे एक आलेख, दलित स्त्रियों में स्त्रीवादी दलों ने इस लेख को लेकर कई चर्चाएँ आयोजित कीं। 'आलोचना' नाम के स्त्री शोध व अभिलेखन केन्द्र ने इस विषय पर जून, 1996 में दो दिवसीय चर्चा सत्र आयोजित किया। बाद में दलित स्त्री संगठनों के उभार पर दो महत्वपूर्ण प्रतिक्रियाएँ सामने आईं जनवादी महिला संगठन की किरण मोघे की तथा विद्युत भागवत की, जिन्होंने इस विषय से जुड़े विभिन्न अहम पहलुओं पर दलीलें पेश कीं।

गुरु (1995) का तर्क था कि दलित स्त्रियों को अलग आवाज की जरूरत को समझने के लिए अंदरूनी व बाहरी कारणों की तह में जाना होगा। वे इस जरूरत को दलित पुरुषों द्वारा मध्यवर्गीय महिला आंदोलन को नकार दिये जाने और खेतिहर मजदूरों की नैतिक-आर्थिक नीति को असंगतता से जोड़ते हैं। वे कहते हैं कि दलित स्त्रियों की अलग आवाज उनके राजनीतिक और सांस्कृतिक बहिष्कार का विरोध स्वर है। यह भी रेखांकित किया गया है कि किसी व्यक्ति के लिए वास्तविकता का बोध उसकी सामाजिक स्थिति से तय होता है और इसलिए गैर-दलित स्त्रियों द्वारा दलित-स्त्री मुद्दों पर कुछ कहना सुसंगत व प्रामाणिक नहीं है। हालांकि गुरु की दलीलों को सकारात्मक रूप में लिया गया और हम स्वीकार भी करते हैं कि दलित स्त्रियों को अपनी भिन्नता के नाम अवश्य देने चाहिए लेकिन सीधे अनुभव मात्र को ही प्रामाणिकता व ज्ञान का मानक मान लेने से संकीर्ण अस्मितावादी राजनीति पनप सकती है और इस संकीर्ण ढाँचे से दरअसल इन स्त्री-संगठनों की स्त्री सशक्तीकरण की क्षमता सीमित हो जाती है और उनका सैद्धांतिक आधार भी।

वामपंथी महिला संगठनों ने इन दलित संगठनों को 'स्वास्थ्य का भिन्न-भिन्न मानक स्थापित करने' के रूप में लिया (मोघे 1996) मोघे की दलील है कि स्वायत्त महिला दलों द्वारा वामपंथी महिला दलों की शुरुआती आलोचना के बावजूद हिन्दुत्व के पुनर्भार व नयी आर्थिक नीतियों की चुनौती ने दोनों को फिर से मिला दिया और स्वायत्त महिला दल वामदलों के साथ एक ही मंच पर आये। मोघे यह कहना चाहती है कि स्वायत्तता दरअसल हमें सीमित कर देती है और यह कि दलित स्वायत्त संगठनों के सामने जनता से ही स्वायत्त हो जाने का खतरा मंडरा रहा था, यदि वे रिपब्लिकन पार्टी के साथ अपना जन्म का रिश्ता बनाये न रखते। उस स्थिति में उनका संघर्ष अनुभवों मात्र पर केन्द्रित रहने अथवा आर्थिक संकटों

के कारण जारी ही नहीं रह पाता। मोघे की आलोचना करते हुए भागवत (1995) ने यह तर्क दिया कि मोघे के दृष्टिकोण में सहजता का अभाव है और उनकी एकतरफा कहानी में वामदलों व स्वायत्त दलों के बीच हुए गंभीर संवाद को नजरअंदाज कर दिया गया है, जिसने स्त्रीवादी सिद्धांतों को गहराई प्रदान की। हाशिये के लोगों में से उभरी किसी स्वायत्त आवाज पर अस्मितावादी और अनुभवहीन होने का लेबल लगा देना समूहों के स्वयं के नामकरण के अधिकार व अपने राजनीतिक दृष्टिकोण के लिए संघर्ष के इतिहास को नकारना है।

ऐसी भी कई चिन्ताएँ दर्शायी गयीं कि दलित स्त्री संगठन मुख्यतः नव बौद्ध संगठन है। परदेशी (1995) ने जोर दिया कि ऐसी आशंकाएँ ऐतिहासिक असंवेदनशीलता का नमूना हैं और दलित आंदोलन के विकास के इतिहास को नजरअंदाज करती हैं। फिर भी वह सावधान करती हैं कि मुख्यतः मध्यवर्गीय नव-बौद्ध नेतृत्व राजनीतिक रूप से बाधा पैदा करने वाला हो जाता। उदाहरण के लिए परिषद् की कई गतिविधियों में ब्राह्मणीकरण का अर्थ त्रिसर व पंचशील को न मानना मात्र समझा गया। इसे मानने से मध्यवर्ग की स्त्रियाँ संगठन में भागेदारी ही न कर पातीं।

आज की स्थिति में तीन प्रतियोगी व एक दूसरे को आच्छादित करते दृष्टिकोण हैं, जो दलित स्त्रियों के इन संघर्षों व राजनीति से उभरे हैं। पहली सबसे पहली और स्पष्ट विचारधारा सत्यशोधक महिला सभा की मार्क्सवादी/ फुले अम्बेडकरीय विचारधारा है (अधिक विवरण के लिए देखिये पाटिल, 1994 तथा सत्यशोधक कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र)।

दलित बहुजन गठबंधन से निकली विचारधारा बहुजन महिला महासंघ (BMM) द्वारा अपनाई गयी है, जो वैदिक ब्राह्मणवादी परंपरा की आलोचना करती है और आदिमाया की बहुजन परंपरा को पुनर्जीवित करने की बात करती है; यह धर्मनिरपेक्षता को ब्राह्मणवादी नजरिया मानती है तथा अम्बेडकर के सामुदायिक जीवन में धम्म तथा धर्म के निजी पहलू को मान्यता दिये जाने की सिफारिश करती है, समान आचार संहिता का विरोध करती है तथा परंपरागत कानूनों व पंचायती न्याय को सर्वोपरि मानती है। BMM राजनीतिक सत्ता व सांस्कृतिक क्रांति, दोनों के लिए संघर्ष को एक करने का आह्वान करता है, जिससे बहुजन-संस्कृति पुनर्जीवित व विकसित हो सके (ठाकुर 1996)। इससे प्रभुत्वशाली ब्राह्मणवादी संस्कृति को चुनौती मिलेगी और भौतिकवादी संस्कृति को बल मिलेगा, लेकिन इससे बहुजन के पारिवारिक व सामुदायिक रीति-रिवाजों के अति-महिमा-मंडन का खतरा है, और पितृसत्ता के जो बचे-खुचे अंश उनमें मौजूद हैं, उन्हें भी दोषमुक्त कर दिये जाने की आशंका से बचा नहीं जा सकता।

दलित महिला संगठन ने स्वयं को फुले/अम्बेडकर विचारधारा का अनुयायी घोषित करने वाले दलित पुरुषों में भी मनुवादी संस्कृति के सतत् चिह्न पाये और इसकी निन्दा की। संगठन ने अपने घोषणापत्र में दलितों में भी सबसे दलित स्त्रियों के लिए संघर्ष करने का संकल्प लिया है (पावड़े 1996)। दलित ईसाई स्त्रियों के संगठन 'ख्रिस्ती महिला संघर्ष संगठन की शुरुआती बैठकों में बहसों के

विषय थे धर्मान्तरण के बाद परंपरागत व्यवसायों का छूट जाना, धर्मांतरितों का सेवा क्षेत्र में काम करने लगना, क्षेत्रीयता और जाति के नाम पर ईसाइयों में ऊँच-नीच तथा चर्च व राज्य स्तरीय ईसाई संगठनों के दो विपरीत ध्रुवों के बीच तालमेल के अभाव से निपटना इत्यादि (भारकर, 1997)

स्त्रीवादी राजनीति के इन गैर-ब्राह्मणवादी घटकों ने स्वायत्त महिला दलों के नजरियें में कुछ बदलाव तो लाया है और उनकी प्रतिक्रियाओं को मोटे तौर पर दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है, (i) एक बहस न चाहने वाला नजरिया, जो स्वीकार कर लेता है कि अब दलित स्त्रियों को नेतृत्व संभालना चाहिए लेकिन स्वयं अपने राजनीतिक बोध में गैर ब्राह्मणवादी स्त्रीवाद को कोई तवज्जो नहीं देता। (ii) वामपंथी नजरिया, जो वर्ग और जाति को एक ही मानता है और अब भी जाति के भिन्न भौतिक प्रभावों को मान्यता देने पर सवाल उठाता है। 25 दिसम्बर को भारतीय स्त्री-मुक्ति दिवस के रूप में मनाने का विरोध भी इसी घड़े से हुआ था। (iii) वे स्वायत्त महिला दल, जो अपनी सैद्धांतिक जड़ों में बदलाव की जरूरत को समझ रहे हैं और स्त्रीवादी राजनीति के लिए और गैर-ब्राह्मणवादी विचारधारा में स्त्री-सशक्तीकरण की ज्यादा संभावनाएँ देख रहे हैं।

यदि इस आलेख की शुरुआत यानी 'भिन्नता के मुद्दे' पर लौटे तो यह स्पष्ट है कि नये दलित महिला आंदोलन द्वारा उठाये गये मुद्दे मात्र भिन्नता के नामकरण से आगे जाते हैं और स्त्रीवादी विवेचन में दलित स्त्रीवादी दृष्टिकोण द्वारा क्रांतिकारी परिवर्तन की क्षमता रखते हैं।

स्त्रीवादी दृष्टिकोण का बौद्धिक इतिहास मार्क्स, एंजेलस व ल्यूकेक्स की श्रमजीवी विचारधारा से शुरू होता है। सामाजिक इतिहास बताता है कि जब भी हाशिये पर पड़े लोग जनआवाज बनते हैं तो क्या होता है। शक्तिशाली सामाजिक तबके बाकी समुदायों की तुलना में अपनी लाभदायक स्थिति के सच्चे व व्यवस्थित आकलन में बहुधा असफल रहते हैं और यह तथ्य ज्ञान के उत्पादन में उनकी भूमिका को वैज्ञानिक रूप से संदिग्ध बना देता है (ग्रांट 1993) उनके विवरण अंततः दमनकारी व्यावहारिक राजनीति को वैध ठहराते दिखाई देते हैं, चाहे उनकी नीयत सही ही क्यों न हो।

दलित स्त्रीवादी दृष्टिकोण को सशक्तीकरण का साधन माना जा रहा है, क्योंकि इसे प्रस्तुत करने वाला नागरिक वास्तविक हाइमॉस का दिखाई देने वाला जीव है (यानि ये विचार दलित स्त्रियों के वास्तविक जीवन से उपजे हैं और विचार के अंतिम परिणामों में भी ये जीवन बने रहते हैं, उससे छिटक नहीं जाते)। वह दृष्टिकोण दावा करता है कि यह दूसरे सभी दृष्टिकोणों की तुलना में सशक्तीकरण की अधिक संभावना रखता है और साथ ही अनेकवाद और सापेक्ष ज्ञान को भी चुनौती देता है, जो सभी राजनीतिक दृष्टिकोणों व सिद्धांतों को अपनी-अपनी जगह सही करार देते हैं। दलित स्त्री दृष्टिकोण समाज द्वारा निर्मित समुदायों के भीतर निजी अनुभवों पर जोर देता है तथा जाति, वर्ग, क्षेत्रीय राजनीति के उन अनेक श्रेणीबद्ध व सतत् परिवर्तनशील सत्ता समीकरणों पर ध्यान केन्द्रित करता है, जिन्होंने इन समुदायों का निर्माण किया है। यह भी स्पष्ट है कि दलित स्त्री दृष्टिकोण की नायिका बहुरूपी, अनेक, यहाँ तक कि परस्पर विरोधी स्वरूपों में दिखाई दे रही है यानी 'दलित स्त्री' नामक

वर्ग समरूपी नहीं है। इसे समझ लेने से यह भी साफ हो जाता है कि दलित स्त्रीवादी विमुक्ति दृष्टिकोण का अनुयायी स्वतः अन्य सभी विमुक्ति परियोजनाओं का सदस्य है और इस बोध को ग्रहण करने के लिए उन सब प्रक्रियाओं पर कड़ी नजर रखना जरूरी है, जिनकी मदद से जेण्डर, क्षेत्रीय नृजातियाँ वर्ग, जाति, यौनता, ये सब एक दूसरे को गढ़ते हैं। अतः हमें मानना होगा कि दलित स्त्रीवादी दृष्टिकोण स्वयं को मुक्त करनेवाली जाँच-परख और संशोधनों के लिए खुला है।

यह दृष्टिकोण दलित स्त्रीवादी बुद्धिजीवियों के कार्यों से भले ही जन्मा हो, किन्तु यह उन दूसरे दलों के अनुभवों और विचारों से पृथक रहकर फल-फूल नहीं सकता, जिन्हें अब इतिहासों, वर्चस्वशाली सामाजिक सम्बन्धों, एकाधिक यूटोपिया और हाशिये के लोगों के संघर्ष से खुद को परिचित कराना ही चाहिए। उनका लक्ष्य से बदल कर यह बोध अब हमारा लक्ष्य बन जाना संभव है, क्योंकि निजी नजरियों कि गैर-दलित स्त्रीवादी दलित स्त्रियों की ओर से या फिर उनके लिए आवाज उठा सकते हैं, किन्तु यह जरूर है कि वे अपने आपको 'दलित-स्त्रीवादी' के रूप में पुनर्आविष्कृत कर सकते हैं। इससे सीधी अनुभवजन्य प्रामाणिकता और अस्मितावादी राजनीति की संकीर्णता से बचा जा सकेगा। हम गैर-दलित स्त्रीवादियों में अनेक के लिए, यह दृष्टिकोण सशक्तीकरण का अधिक प्रभावी साधन सिद्ध हो सकता है, क्योंकि यह उन सत्ता सम्बन्धों को अधिक सम्पूर्णता से नकारता है, जिनमें हम स्वयं को उलझा रहे थे। दलित स्त्रीवादी नजरिया अपनाने से हम 1980 के दशक में पाई अपनी आवाज के कुछ हिस्से को खो देंगे और कुछ को संशोधित कर लेंगे। हमें यकीन है कि इस प्रक्रिया के दौरान हमें व्यष्टिवादी स्त्रीत्व से आगे बढ़ कर समष्टिवादी स्त्रीत्व प्राप्त होगा।

(यह आलेख मार्च, 1998 में पुणे में विकास अध्ययन केन्द्र द्वारा दलित दृष्टिकोण पर आयोजित एक चर्चा सत्र में प्रस्तुत किया गया था।)

संदर्भ

1. अहमद, ए. (1996) : द पॉलिटिक्स ऑफ लिटरेरी पोस्ट कोलोनियलिटी पी मोंगिया द्वारा संपादित 'कन्टेम्पोरेरी पोस्ट-कोलोनियल थ्योरी' में OUP, नयी दिल्ली।
2. अल्योसियस, जी. (1997) : नेशनेलिज्म विदाउट अनेशन इन इंडिया OUP, नयी दिल्ली
3. अम्बेडकर बी.आर. (1982-90) : कास्ट्स इन इंडिया, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर खण्ड-1 महाराष्ट्र शासन, मुम्बई
4. अकरकर, एस, (1995) : 'थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ वीमेन्स मूवमेंट इन इंडिया', इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिक्स वीकली, खण्ड-XXX क्र-17, Ws-2.24
5. भारकर, एन (1997) : 'पुन्यातील खिस्ती सामाजिक संगठन आणि चर्च ह्यान्चे लिंगभाव विषयक दृष्टिकोण', स्त्री अध्ययन केन्द्र, पुणे विश्वविद्यालय
6. बनर्जी, एच. एस. मोजाब व जे. व्हाइटहेड द्वारा संपादित (शीघ्र प्रकाश्य) : 'प्रापर्टी एण्ड प्रोपराइटी जेण्डर एण्ड क्लास इन इम्पीरियेलिज्म एण्ड नेशनेलिज्मस
7. बरेट, एम.व ए. फिलिप्स द्वारा संपादित (1992) : डीस्टेबिलाइजिंग

- थ्योरी पॉलिटी प्रकाशन, कैम्ब्रिज
8. भागवत, बी (1990) : कनिष्ठ जातिन्वी कल्वल आणि जोतिराव फूलो, जून, पृ.-80-86
(1996) : महाराष्ट्र टाइम्स मुम्बई सितम्बर, 15
(1997) : महाराष्ट्रच्या सामाजिक इतिहासाच्या दिशेने स्त्री अध्ययन केन्द्र, पुणे विश्वविद्यालय
 9. चक्रवर्ती यू (1998) : रीराइटिंग हिस्ट्री : द लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ पंडिता रमाबाई, काली फॉर वीमेन, नयी दिल्ली
 10. चटर्जी पी (1989) : द नेशन एण्ड इट्स फ्रेगमेंट्स : कोलोनियल एण्ड पोस्ट कोलोनियल हिस्ट्रीज OUP, मुम्बई
 11. चटर्जी पी. (1989) : 'नेशनलिस्ट रिजोल्यूशन ऑफ द वीमेंस क्वेश्चन' वैद व संगारी द्वारा संपादित, रीकार्स्टिंग वीमेन : ऐसेज इन कोलोनियल हिस्ट्री काली' नयी दिल्ली
 12. कोलिस पी. एच. (1990) : 'ब्लेक फेमिनिस्ट थॉट : नॉलेज कान्शियसनेस एण्ड द पॉलिटिक्स ऑफ एम्पावरमेन्ट उरविन, बोस्टन (1986) : 'लर्निंग फ्रॉम द आउटसाइडर विदिन', सोशल प्रॉब्लम्स, 33 : 14 : 32
 13. जोसेफ, एफ (1991) : 'कल्चर एण्ड पॉलिटिक्स एनालिसिस इन इंडिया', सोशल साइन्टिस्ट, खण्ड-19, क्र-9-10, अक्टूबर-नवम्बर
 14. ग्रांट, जे (1993) : फण्डामेंटल फेमिनिज्म रॉटलेज, न्यूयॉर्क
 15. गुरु जी (1998) : दलित कल्चरल, मूवमेन्ट एण्ड डायलेक्टिक्स आफ दलित पॉलिटिक्स इन महाराष्ट्र, विकास अध्ययन केन्द्र, मुम्बई
(1995) : 'दलित वीमेन टॉक डिफरेंटली', इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, अक्टूबर 14-21, पृ.-2548-49
 16. हार्टस्टॉक एन : मनी, सेक्स एण्ड पॉवर, लॉगमैन, न्यूयॉर्क
 17. हार्डिंग, एस (1991) : 'सबजेक्टिवली एक्सपीरियंस एण्ड नॉलेज : एन इपिस्टेमोलॉजी फ्रॉम / फॉर रेनबो कॉइलिशन पॉलिटिक्स' जे पीटरसे द्वारा संपादित इमेन्सिपेशन्स : मॉडर्न एण्ड पोस्ट मॉडर्न सेज, लंदन
 18. काम्बले, एस. व परदेशी (1997) : मनुस्मृति आणि डॉ. अम्बेडकर क्रांतिसूर नाना पाटिल अकादमी, पुणे
 19. कन्नाबीरन, वी. व के. कन्नाबीरन (1991) : 'कास्ट एण्ड जेण्डर : अण्डरस्टेण्डिंग डायनेमिक्स ऑफ पॉवर एण्ड वायोलेंस', इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, खंड-XXVI, क्र-37, सितम्बर 14
 20. कुमार, आर. (1993) : हिस्ट्री ऑफ डूइंग, काली फॉर वीमेन, नयी दिल्ली
 21. कोठारी, आर. (1994) : 'राइज ऑफ दलित्स' एण्ड रीन्यूड डिबेट ऑन कास्ट' इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल, वीकली, जून, 25, पृ.-1589-94
 22. लिडल, जे. व आर. जोशी (1986) : डॉटर्स ऑफ इनडिपेन्डेन्स जेण्डर कास्ट एण्ड क्लास इन इंडिया, काली फॉर वीमेन, नयी दिल्ली
 23. मोहो, के. (1996) : 'दलित स्त्रियांचे वेगळे चूल' महाराष्ट्र टाइम्स मुम्बई, सितम्बर
 24. मान एस. व एल. केली (1997) : 'स्टेंडिंग एट द क्रॉसरोड्स ऑफ मॉडर्निस्ट थॉट', जेण्डर एण्ड सोसाइटी खण्ड-II, क्र-4, अगस्त पृ.-391-409
 25. मून, एम. व यू. पवार (1989) : इतिहास घादबिला : अम्बेडकरी चल्वालीतील स्त्रियांचा सहभाग, स्त्री, मुम्बई
 26. ओ. हेनलोन, आर (1994) : अ कम्पेरिजन बिटवीन वीमेन एंड मेन : ताराबाई शिन्दे एण्ड द क्रिटिक ऑफ जेण्डर रिलेशंस इन कोलोनियल इंडिया, OUP, मद्रास
 27. ओमवेट जी. (1976) : 'कल्चर रिवोल्ट इन कोलोनियल सोसाइटी : द नॉन- ब्राह्मण मूवमेंट इन वेस्टर्न इंडिया-1873-1930' इंडियन सोशल साइंस सोसायटी, मुम्बई
(1993) : रीइन्वेटिंग रिवोल्यूशन : इंडियाज न्यू सोशल मूवमेन्ट्स : शार्पे न्यूयॉर्क
(1994) : दलित्स एण्ड डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन, डॉ. अम्बेडकर एण्ड दलित मूवमेन्ट इन कोलोनियल इंडिया OUP, नयी दिल्ली
 28. परदेशी पी. (1997) : डॉ. अम्बेडकर आणि स्त्रीमुक्तिवाद क्रांतिसिंह नाना पाटिल अकादमी, पुणे
 29. पाटिल, एस. (1982) : दास शूद्र स्लेवरी : एलाइड प्रकाशन मुम्बई (1994) : मार्क्सवाद, फुले-अम्बेडकर वाद सुगव पुणे
 30. पावडे, के. (1996) : 'पितृप्रधानता आणि दलित स्त्रियांचा संघर्ष', 'आलोचना'-स्त्री शोध व अभिलेखन केन्द्र द्वारा आयोजित सम्मेलन में प्रस्तुत पर्चा, पुणे
 31. रेगे, एस. (1994) : 'कास्ट एण्ड जेण्डर : द वायोलेंस अगेन्स्ट वीमेन इन इंडिया', पी. जोगदंद द्वारा संपादित दलित वीमेन में. ज्ञान, नयी दिल्ली
(1995) : जेमोनिक् ऐप्रोप्रियेशन ऑफ सेक्सुएलिटी : द केस ऑफ द इरोटिक लावणी ऑफ महाराष्ट्र, कन्ट्रीब्यूशंस टू इंडियन सोशियोलॉजी खंड-29, क्र. 1-2
 32. रूबिन, जी. (1989) : 'वीमेन एज निगर' वी. रोजेस्क व टी. रोजेस्क द्वारा संपादित मस्कुलाइन/ फेमिनाइन: रीडिंग्स इन सेक्सुअल माइथोलॉजी एण्ड द लिबरेशन ऑफ वीमेन हारपर व रो, न्यूयॉर्क
 33. संगारी, के. (1995) : पॉलिटिक्स ऑफ डाइवर्सिटी : रिलीजियस कन्स्युनिटिज एण्ड मल्टीपल पेट्रिआर्चीज', इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली दिसम्बर, 23
 34. संगारी, के. व एस. बैद द्वारा संपादित (1989) : रीकार्स्टिंग वीमेन काली फॉर वीमेन, नयी दिल्ली
 35. सरकार, एस. (1997) : राइटिंग सोशल हिस्ट्री OUP, नयी दिल्ली (1947) : इंडियन नेशनेलिज्म एण्ड पॉलिटिक्स ऑफ हिन्दुत्व', लुड्डेन डी. द्वारा संपादित मेकिंग इंडिया हिन्दू में OUP, नयी दिल्ली
 36. शील, आर. (1997) : 'इन्सटीट्यूशनलाइजेशन एण्ड एक्सपेंशन ऑफ डॉवरी सिस्टम इन कोलोनियल नॉर्थ इंडिया', इकोनॉमिक एण्ड पॉलिटिक्स वीकली जुलाई, 12
 37. थारु, एस. व टी. नीराजंन (1994) : प्रॉब्लम्स फॉर अ कन्टेम्पेरेरी थ्योरी ऑफ जेण्डर इन इंडिया', सोशल साइन्टिस्ट खंड-22, मार्च-अप्रैल
 38. ठाकुर, आर. (1996) : आदिमायाचे मुक्ति, प्रबुद्ध भारत, मुम्बई
 39. गीता, वी. (1992) : 'जेण्डर एण्ड लॉजिक ऑफ ब्राह्मणिज्म : ई.वी. रामास्वामी पेरियार एण्ड द पॉलिटिक्स ऑफ द फीमेल बॉडी' स्त्री अध्ययन चर्चा सत्र IIAS शिमला में प्रस्तुत पर्चा
 40. व्हेलेहन, आई. (1995) : मॉडर्न फेमिनिस्ट थॉट एडिनबर्ग विश्वविद्यालय प्रेस, एडिनबर्ग
 41. वुड, ई.एम. (1996) : 'मॉडर्निटी, पोस्ट-मॉडर्निटी और कॅपिटलिज्म', मंथली रिव्यू, खण्ड-48, क्र-3, जुलाई-अगस्त
- विशेषांक :**
1. सत्यशोधक मार्क्सवादी (1985) : अम्बेडकर शताब्दी स्त्री विशेषांक
 2. येवले तालुका स्त्री विशेषांक (1985)
 3. मैत्रिणी : फुले अम्बेडकर शताब्दी स्त्री विशेषांक (1992)
 4. दलित महिला संगठन, महाराष्ट्र तथा खिस्ती महिला संगठन, सुगव, पुणे की पहली सभा की रिपोर्ट



संपादक

संजीव चंदन — 09973860764

अतिथि संपादक

अनिता भारती — 09899700767

सम्पादक मंडल

डॉ. अनुपमा गुप्ता — 09422903102

राजीव सुमन — 08745007281

धर्मवीर सिंह — 08800671615

नीलिमा नगराले — 09013596205

मोती कपूर मून — 09960343375

अमिता — 09406009605

प्रबंध संपादक

अशोक मेश्राम — 08600554015

सह-संपादन

नितिन राउत — 09011315113

बलवंत ढगे — 09890513257

साज-सज्जा एवं शब्द संयोजन

दिनेश कुमार — 09910129575

आवरण चित्र एवं छायाचित्र : रघु राय, हरेराम तथा वेब से

मूल्य — 40 रुपये

वार्षिक शुल्क

व्यक्तिगत — 160 रुपये

संस्थागत — 200 रुपये

चैक द्वारा भुगतान पर 25 रुपये अतिरिक्त भेजें।

बैंक ड्राफ्ट अथवा चैक *Marginalised News Bureau, Wardha* के नाम भेजें।

दूरस्थ सम्पादक मंडल

डॉ. फिरोज हैदरी (नागपुर) — 09422903102

राजीव रंजन गिरि (दिल्ली) — 09868175601

स्वतंत्र मिश्र (दिल्ली) — 09953404777

सुधीर सिंह (दिल्ली) — 09212387021

शिवम शर्मा (दिल्ली) — 08287270431

असीमा भट्ट (मुंबई) — 09967883856

अनुज शुक्ला (जलगांव) — 09372657805

निवेदिता (पटना) — 09835029152

जय कौशल (त्रिपुरा) — 09612091397

दीपेश (देहरादून) — 09897589697

उत्पल अनीश (गुजरात) — 08758277216

अश्विनी कुमार (आरा) — 09386548894

मनीष (पूर्वोत्तर) — 08402071167

श्रवण कुमार (मुजफ्फरपुर) — 08434510866

पत्रिका प्राप्ति स्थान

बुक स्टॉल, जे.एन.यू., नई दिल्ली

बुक स्टॉल, एन.एस.डी., दिल्ली

वसुन्धरा प्रकाशन, पवई, मुंबई

विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर

राजकमल प्रकाशन, पटना

बिहार डेन्टल वर्क्स, गया

अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर

सबद प्रकाशन, इलाहाबाद

बुक स्टॉल, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता

संपादक-प्रकाशक-मुद्रक : संजीव चंदन द्वारा द मार्जिनलाइज्ड, एन इंस्टीट्यूट फॉर अल्टरनेटिव रिसर्च एंड मीडिया स्टडीज के लिए प्रकाशित तथा रूचिका प्रिंटर्स, झिलमिल दिलशाद गार्डन, दिल्ली से मुद्रित।

सम्पादकीय सम्पर्क

The Marginalised, an Institute for Alternative Researches & Media Studies, Thorat Complex, Opp. Samajik Nyay Bhawan, Sewagram Road, Wardha-442001, Email : themarginalised@gmail.com
प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। सम्पादक की उनसे कोई अनिवार्यता: सहमति नहीं बनती।

पत्रिका से जुड़े सभी व्यक्ति अवैतनिक हैं।